बापू के आश्रम में

[संस्मरण]

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

१९५१
सस्तासाहित्य प्रकाशन
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार १९५१
मूल्य
एक रुपया

मुद्रक
देवीप्रसाद शर्मा
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली

आपका यह स्मरण

और किसे

अर्पण करूं ?

—हरिभाऊ

निवेदन

बापू गये, उनके विचार, जीवन-चरित्र व जीवन-संस्मरण विरासत के रूप में हमारे लिए बाकी रह गये। विचारों की तो वे सदैव वृष्टि करते रहे—उनके लेख, पत्र, व्याख्यानों के टिप्पण प्राय सब सुरक्षित हैं। व्यक्ति अपने जीवन की साधारण घटनाओं में जितना चमकता है उनसे जितनी शिक्षा, स्फूर्ति, मिसाल हमें मिलती है, जितना जादू की तरह असर होता है, उतना कोरे विचारों का या उपदेशों का नहीं। विचार व उपदेश वही असर करते हैं जो जीवन के साथ घुले-मिले होते हैं। अत बापू के अवसान के प्रथम धक्के से जब चित्त कुछ काम करने लगा, तो खयाल हुआ कि बापू की क्या पूंजी अपने पास है जो अपने भी काम आये और दूसरों के भी। एक-एक करके बहुतेरी घटनाएं आंखों के सामने दौड़ गईं—बापू के २७ साल सहवास व सम्पर्क की घटनाएं, जिनका साक्षी होने का सौभाग्य मुझे पूर्व पुण्य से मिला। उनके जीवन की कोई भी घटना, कोई भी व्यापार, अर्थ, उपदेश, नसीहत से खाली न था। जो घटनाएं यहां प्रस्तुत की गई हैं वे कोई-न-कोई विशेषता, शिक्षा, उद्बोधन लिये हुए हैं। बापू के ये पुण्य-स्मरण हमारे जीवन को पवित्र व आशामय बनावें।

इनमें बापू के संवाद उन्हींकी भाषा में देना मेरे लिए असंभव था। मैंने न तो कोई नोट्स रखे, न डायरी ही। अत आशय बापू का है व भाषा मेरी। इसमें घटनाओं का कालक्रम भी ठीक-ठीक नहीं सध पाया है। इन घटनाओं का महत्त्व कालक्रम में उतना नहीं जितना इनके प्रभाव में है। यह इतिहासात्मक या चरित्रात्मक नहीं, संस्मरणात्मक है और लिखते समय भगवान् कृष्ण के प्रति गोपियों की यह मार्मिक व सार्थक उक्ति मुझे सदैव स्फूर्ति देती रही है—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ॥

श्रवण मगल श्रीमदाततम्
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना ॥९॥

[तेरी कथा क्या है, अमृत की धारा है। तप्त लोगो को जीवन, शान्ति व शीतलता देती है। पाप नाशिनी है। उसके सुनने मात्र से मनुष्य का मगल होता है। इसीसे कविजन उसका गान करते फिरते है। वे धन्य है जिन्हे उसके गान-प्रचार का सद्भाग्य प्राप्त होता है।]

महिला शिक्षा सदन,
गांधी आश्रम
हटूंडी (अजमेर)
शीतला सप्तमी, २००३

—हरिभाऊ उपाध्याय

विषय-सूची

बापू के आश्रम में

: १ :

बापू की गोद में

१९२१ ईसवी, जूनी इन्दौर का एक कुआ। अप्रैल मे हम कुछ मित्र जिनमे भाई बैजनाथजी महोदय भी थे, शाम को घूमने निकले। हम लोग अक्सर घूमने जाते व अपने भावी जीवन के सपने रचते। बैजनाथजी उन दिनो कालेज में पढते थे। उनसे मेरा परिचय हुआ ही था। हम दोनो एक दूसरे की ओर आकर्षित हो रहे थे। दोनो के विचार और भावनाए एक ही दिशा मे बहती दिखाई देती थी। प्राय समान गुणशील थे।

बाते चल पडी मेरे बारे मे। मैने इदौर से 'मालव-मयूर' नामक एक मासिक पत्र निकालने का प्रयत्न किया था, जोकि वहा के तत्कालीन प्रधान मन्त्री की 'कृपा' से असफल हो गया था। 'मालव-मयूर' के द्वारा मै मालव-प्रदेश में ही नही, सारे मध्य-भारत में राष्ट्रीय व राजनैतिक जागृति करना चाहता था। अत इस निराशा से मुझे बडी टेस लगी थी। अब किसी देशी रियासत से तो पत्र निकालना असभव मालूम होता था। इदौर से हमे कुछ करने की आशा थी, सो चूर-चूर हो गई। अत खण्डवा से एक साप्ताहिक निकालने की योजना मन मे बन रही थी। इसके मूल मे शुद्ध सात्विक सेवा-भाव नहीं था। इदौर के प्रधान मन्त्री की 'खबर लेना' भी था। इसी सम्बन्ध में हम लोगो के बीच बातचीत

हो रही थी। मित्रो को ऐसा लगता था कि मुझमे कुछ चमक है। पर हम अनुभव कर रहे थे कि इन्दौर का वातावरण उस चिनगारी पर राख डालने का काम कर रहा है। आसपास की दूसरी रियासतो से इन्दौर फिर भी गनीमत था। वहा से एक प्रगतिशील (आज के अर्थ मे नही) साप्ताहिक (मराठी-हिन्दी) 'मल्लारि मार्तण्ड विजय' सरकार की ओर से निकलता था। इतना होते हुए भी जब एक स्वतन्त्र मासिक को नही निकलने दिया तो मुझ-जैसे एक भावनाशील युवक का दिल टुकडे-टुकडे हो गया। यह चोट खण्डवे से पत्र निकालने के लिए आतुर हो रही थी। मेरे मित्र यह मानते थे कि मै इस काम को कर तो सकता हू, क्योकि अपने 'औदुम्बर' के अनुभव के अलावा मै 'सरस्वती' मे भी तीन साल काम कर चुका था। इसी बातचीत के दौरान म किसीने कहा,"तुममे चमक तो है। तुम्हारे सम्पर्क मे जब कभी आते है तो अपने से तुममे कुछ विशेषता अनुभव करते है।" यह एहसास तो मुझे तब भी होता था, आज भी होता है। बडे-से-बडे व्यक्ति के साथ रहते हुए भी, उनके प्रति अत्यन्त विनम्र भाव रखते हुए भी, अपनी कुछ विशेषता का भाव मेरे मनसे तिरोहित नही होता। मुझे कई बार सन्देह होता है कि यह अभिमान का कोई रूप हो। किसीकी अच्छाई को समझ लेने व दृढता से पकड रखने की खासियत मुझमें बहुत है। किसी भी व्यक्ति से जब मै मिलता हू तो थोडे ही समय मे उसमे घुल-मिल जाता हू। उस पर मेरा कुछ प्रभाव—तेज नही—पडने लगता है। उस 'चमक' या 'विशेषता' का इसी तरह का विश्लेषण मेरा मन करता रहता है।

मैने कहा, "यहा का वातावरण तो अब मेरे लिए दमघोटू हो रहा है। जो कुछ बाहर—काशी, प्रयाग, कानपुर—रहकर कमाया है, उसे बढाना तो दूर, कही यहा खो न दू। जैसे दूसरे लोग यहा के वातावरण मे आकर दब गये, कही मै भी ऐसा न हो जाऊ।"

"ऐसा होना तो नही चाहिए। तुममे कुछ और ही बात दीखती है।"

"मेरे मन मे बडी अशान्ति व उथल-पुथल मच रही है। आगे

की कोई तस्वीर नही बन पाती है। इससे जी भारी-भारी रहता है। आप कहते है कोई विशेषता है तो फिर ऐसा अनुभव क्यो हो रहा है ? या तो आपका यह खयाल गलत है कि कोई चमक है या फिर उसके अनुकूल कोई लक्षण भी तो दीखना चाहिए।"

"हमे तो ऐसा ही लगता है कि कोई अवसर मिलना ही चाहिए।"

"हा, तभी यह सच साबित होगा कि कोई विशेषता है। भगवान् विशेषता दे, परन्तु उसके उपयोग के लिए अवकाश या अवसर न दे, यह हो नही सकता।"

× × ×

शायद इसी बातचीत मे यह तय हुआ कि खण्डवा से एक ऐसा साप्ताहिक पत्र निकाले, जिसमे लेख-टिप्पणी तो महात्माजी के 'यग इडिया' से लिये जावे व दूसरी हम अपने काम की सामग्री सजा लें। इस साप्ताहिक की योजना ने ही मुझे महात्माजी, स्वर्गीय भाईजी (जमनालालजी) व साबरमती आश्रम तक पहुचाया। मै इस अखबार की योजना लेकर बम्बई महात्माजी की सेवा मे पहुचा। वहा श्रद्धेय भाईजी की सलाह से तय हुआ कि पत्र खडवा से न निकालकर अहमदाबाद से निकाला जाय व वह सिर्फ 'यग इडिया' व 'नवजीवन' का अनुवादमात्र रहे। इस सुअवसर को मैने अपने जीवन का अहोभाग्य ही नही, महान शिक्षादायक भी माना है। खण्डवा से यदि पत्र निकलता तो मेरी बदले की भावना जरूर उसमे काम करती व कोई असात्विक फल लाती। भगवान को मुझे उससे बचाना था। अत उसने महात्माजी की गोद मे भेज दिया।

साप्ताहिक की योजना बनाकर मै बम्बई महात्माजी के पास पहुचा। वह उन दिनो प्रिंस ऑव वेल्स के स्वागत-बहिष्कार के आन्दोलन मे जी-जान से जुटे हुए थे। गामदेवी के मणिभवन में उनका डेरा था। श्री देवदास गाधी से सबसे पहले भेट हुई। उन्होने बताया कि बापूजी को आपका पत्र मिल गया है। उसका उनपर अच्छा असर हुआ है। आपका खुशखत भी उनको पसन्द आया है।

मैं जब महात्माजी के कमरे मे घुसा तो वह एक छोटी-सी मसनद के सहारे गादी पर बैठे हुए थे। खुला बदन था। लम्बी धोती पहने थे। उन दिनो वह धोती, कुर्ता और टोपी पहनते थे। कमरा मिलने-वालो से घिरा हुआ था। मै जब पहुचा तो मौ० मुहम्मदअली आये और अपना चोगा बिछाकर उस पर बैठ गये। आदोलन की रिपोर्ट महात्माजी को सुनाने लगे। वह महात्माजी को 'सरकार' सम्बोधन करते जाते थे और इस नम्रता से उनसे बातचीत करते थे, मानो कोई सिपाही अपने सरदार से या शिष्य अपने गुरु से बात कर रहा हो। उनकी आखो व हाव-भाव से महात्माजी के प्रति उनके मन में बहुत स्नेह और श्रद्धा टपकती थी। उन दिनो अली-बन्धु मुसलमानो के शेर समझे जाते थे और काग्रेस के नेताओ मे भी उनकी गिनती होती थी। किसी मुसलमान का, सो भी एक मुस्लिम अगुआ का, एक हिन्दू के प्रति इतने अदब का मेरा यह पहला ही अनुभव था। उस दृश्य को देख मै गद्‌गद् हो गया। आज के हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के इस अन्धकार में वह दृश्य प्रकाश-किरण की तरह मेरी आखो में छा जाता है।

मुझसे गाधीजी ने कहा, "मेरा जवाब तुम्हे मिल गया है न ? तुम्हारी योजना मुझे पसन्द है। जमनालालजी मे मेरी बातचीत हो गई है, लेकिन तुम अहमदाबाद से पत्र निकालो तो अच्छा है। तब मै ज्यादा देख सकूगा।" मुझे जहा तक याद है, जमनालालजी को भी मैंने पहले-पहल वही देखा। अहमदाबाद से पत्र निकालना तय हुआ। जमनालालजी ने श्री शकरलाल बैंकर से मेरी मुलाकात करादी और वह वही दौरे पर चले गये। पन्द्रह-बीस रोज मुझे उसी सिलसिले मे बम्बई रहना पडा। बम्बई भी मै पहली ही बार आया था। उसका नाम मैने 'ए सिटी आव होटल्स एन्ड साईनबोर्ड्स' रखा।

: २ :

पुराने संस्मरण

जहातक मुझे याद है, उससे पहले महात्माजी को मै तीन बार देख चुका था। पहली बार १९१५ मे लखनऊ काग्रेस में। दूसरी बार, शायद उसी साल, चम्पारन से लौटते हुए कानपुर स्टेशन पर। तीसरी बार इन्दौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में। १९१८ मे उस समय के मेरे सम्मरण इस प्रकार हैं

"दिसम्बर १९१६ में लखनऊ कुछ दिनो तक राष्ट्रभक्तो के लिए तीर्थ-स्थान हो गया था। मैंने पहले-पहल यही गाधीजी के दर्शन किये। उन दिनो लोग उन्हे 'कर्मवीर' कहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह ने देश का ध्यान उनकी ओर खीच दिया। भारत की सेवा करने के इरादे से वे यहा आ चुके थे। उनके दर्शन की लालसा से मैंने कई धक्के खाये। कई दिन तक दौड-धूप करने के बाद आखिर हिन्दू-सभा के मण्डप मे दूर से उनके दर्शन हुए। प्रथम ही दर्शन ने मेरा हृदय खीच लिया। वह भव्य दृश्य आज भी मेरी आखो में नाच उठता है। हिन्दू-सभा व काग्रेस में जो उनके दस-पाच चुने हुए वाक्य मेरे कानो मे पडे व जिस गभीरता व शान्ति के साथ उनके मुह से प्रकट हुए उससे उनके आत्मतेज और आत्मविश्वास का सिक्का मेरे हृदय पर जम गया। तब से 'लोकमान्य' के साथ ही 'कर्मवीर' ने भी मेरे हृदय के एक कोने पर अधिकार कर लिया।

"इसके बाद महात्माजी के दर्शन कानपुर स्टेशन पर किये। निलहे गोरो के अत्याचारो से बिहार की प्रजा को बचाने के उद्देश्य से महात्मा-

जी के प्रयत्नस्वरूप एक कमीशन की स्थापना हो चुकी थी। महात्माजी किसी जरूरी काम से पजाब मेल से देहली होते हुए गुजरात जा रहे थे। सैकिड क्लास के एक दरवाजे के ऊपर एक नगे सिर और नगे पैर वाली मूर्त्ति को देखा। बदन पर एक मोटा कुरता, कमर मे मोटी छोटी धोती। उस समय उनके चेहरे पर जो निश्चय और तपस्या का तेज दिखाई दिया वह दर्शको के लिए चम्पारन के उज्ज्वल भविष्य का काफी सूचक था। फिर शब्दो द्वारा जब उन्होंने अपना कठोर निश्चय प्रकट किया कि या तो निलहो के अत्याचारो से प्रजा की रक्षा होगी या ये हड्डिया चम्पारन मे रह जायगी, तब तो मेरी आखो मे आसू भर आये। इतने निर्भय व नि शक वचन अपने कानो से सुनने का वह मेरा पहला ही अवसर था।

"१०१८ की फरवरी मे इन्दौर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का आठवा अधिवेशन था। महात्माजी सभापति बनकर आये। अब वे 'महात्मा गाधी' हो गये थे। खेडा जिले के सत्याग्रह की ओर सारे देश की आखे लग रही थी। इस समय महात्माजी खामे 'कैदी' बने हुए थे। उनका वही पहनावा आज भारत का राष्ट्रीय पहनावा हो गया है। चेहरा शरीर की दुर्बलता की गवाही दे रहा था, पर उत्साह व तेज देखकर लोग दग रह जाते थे। खेडा-सत्याग्रह का काम अधूरा छोड कर वह इदौर आये थे। सम्मेलन के अधिवेशन, विषय-समिति, सार्व-जनिक भाषण तथा इतर कार्यो मे दिन-रात व्यस्त रहते हुए भी उनके शरीर व दिमाग को थकते हुए किसीने न देखा, विषय-समिति मे मैंने देखा कि उनकी आकलन-शक्ति अदभुत है। थोडे शब्दो और हाव-भाव से मन का आशय समझ लेने मे वे बडे सिद्धहस्त है। बडे-बडे विद्वान, कार्यकर्त्ता व पदवीधर लोग वहा उपस्थित थे, पर सा मालूम होता था कि सब महात्माजी के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए फीके मालूम होते। महात्माजी मानो किसी अन्तर्यामी की तरह एक दृष्टिपात में उनके हृदय का भाव समझकर नीचे देखने लग जाते थे। उस समय उनकी दृष्टि मे जो भेदकता मैंने देखी उसने

मुझे उनके महापुरुष होने का निश्चय करा दिया। अन्तिम दिन उन्होने जो उपसहारात्मक भाषण किया उसने तो सब लोगो का मन हर लिया और प्रायः प्रत्येक के घट में उनकी मूर्त्ति प्रतिष्ठित हो गई।"

इस समय गांधीजी का सितारा तेज हो रहा था। नागपुर काग्रेस में देशबन्धुदास पर भी उनकी विजय हो चुकी थी। लालाजी और पडित मोतीलालजी तो पहले ही उनके असर मे आ चुके थे। इस समय वह काग्रेस के एकछत्र नेता बन गये थे। स्व० केलकर के नेतृत्व मे महाराष्ट्र मे अलबत्ता विरोधी वातावरण पनप रहा था। यह साफ दीख रहा था कि काग्रेस और हिन्दुस्तान को महात्माजी से एक नया प्रकाश और बल मिल रहा था। निहत्थे हिन्दुस्तान को इतने बडे-बलाढ्य अग्रेजी साम्राज्य से लडने का एक नया हथियार—सत्याग्रह—मिल रहा था। नेताओ की समझ मे तो पूरा-पूरा नही आता था कि अहिसा-बल या आत्मबल से कैसे एक महान शस्त्र-सज्जित राष्ट्र को पछाड सकेगे? परन्तु दक्षिण अफ्रीका मे हुए सत्याग्रह-विजय का नमूना उन्हें स्फूर्ति दे रहा था। ऐसे समय मे युवराज के स्वागत-बहिष्कार पर चर्चा करने के लिए काग्रेस-महासमिति की एक बैठक हुई थी।

: ३ :

रामराज्य में

इन्दौर में रहते हुए मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि मुझे महात्माजी के आश्रम—उनके 'रामराज्य'—मे रहने का कभी सौभाग्य मिलेगा। वास्तव मे पूर्वजो के पुण्य और बडो के आशीर्वाद का ही फल था। अत अहमदाबाद से पत्र निकालने का सुझाव मानो किसी भूखे भिखारी के सामने सोने का परोसा थाल आ गया हो। मैंने गद्-गद् हो कम्पित हृदय से भगवान् से प्रार्थना की, "प्रभो! मेरी सब कमजोरिया दूर करना और मुझे इस पवित्र आश्रम में रहने योग्य

बनाना।" एक-एक कर अपनी सारी कमजोरिया मेरी निगाह मे दौड गईं। काशी विद्याध्ययन के लिए जाते समय जैसा मैंने सकल्प किया था कि मैं एक आदर्श विद्यार्थी का जीवन व्यतीत करूगा, वैसा ही सकल्प इस समय भी किया कि मुझसे कोई ऐसा आचरण या व्यवहार न होगा जिससे आश्रम की महिमा को बट्टा लगे, महात्माजी को दु ख हो, उनकी आख तक को मुझे उलहना देने का अवसर आवे।

बम्बई से इन्दौर लौटने के बदले मैं सीधा अहमदाबाद गया। बात तय हो जाने या कार्य का निर्णय हो जाने के बाद फिर उसके अमल मे ढील होना मुझे बरदाश्त नही होता। फिर यह भी अन्देशा था कि यह स्वर्ण-अवसर कही हाथ से निकल न जाय। वहा स्वामी आनन्द से काम पडा। वे नवजीवन-सस्था के तेजस्वी अधिकारी थे। कई दिनो तक मैं अहमदाबाद ही रहा, क्योकि वही प्रेस और अखबारो का आफिस था। मेरा जी बार-बार करता था कि आश्रम देखू। लेकिन वह था वहा से पाच मिल दूर और शुरू मे काम भी इतना अधिक रहता था और कठिनाइया इतनी थी कि मुझे सयम से ही काम लेना पडा। किसी को स्वर्ग के पास तो पहुचा दिया हो मगर उसमे प्रवेश करने का अवसर न मिलता हो तो जो दशा उसके मन की हो सकती है वही मेरे मन की हो रही थी। परन्तु मेरा धर्म एक सिपाही का धर्म था। सिपाही का एक-मात्र कर्त्तव्य है अपनी ड्यूटी पर डटे रहना।

महात्माजी का नाम जैसा बडा था, उतनी ही निराशा मुझे उनके 'नवजीवन-कार्यालय' को देखकर हुई। वह एक एकान्त और गन्दी गली और छोटे-से मकान मे घिच-पिच था, जिसमे दम घुटने लगता था। लेकिन जैसे कीचड मे से कमल उपजता है और माता के रक्तपूरित गर्भ से सुन्दर सपूत पैदा होता है उसी तरह उस अधेरे और मैले-कुचैले कार्यालय से तरुण-भारत को 'नवजीवन' मिल रहा था और भारत को 'यग इडिया'।

आश्रम का ध्यान आते ही दिल उसकी ओर उसी तरह झपटने और उछलने लगता है जिस तरह बछडा अपनी माता के रम्हाने का

शब्द दूर से सुनते ही उछल-कूद करने लगता है। आश्रम मेरे लिए उस माता के समान रहा है जिसने मुझे न केवल नवजीवन दिया, बल्कि अपना अमृत-स्तन-पान भी कराया। ससार में यदि ऐसा कोई स्थान हो सकता है, जिसके नाम का असर मुझपर जादू का-सा होता है तो वह है साबरमती का आश्रम।

यह आश्रम वह बैटरी था, जहा से केवल भारत को ही नही, सारे दुनिया के जिज्ञासु जनो को नव चैतन्य, नव सदेश, नव आदर्श, नव प्रकाश की विद्युत किरणें प्राप्त हो रही थी। सारी दुनिया के मनस्वी लोग इस बीहड मे बसे, कडी धूप मे तपे, आश्रम की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखते थे और जो कोई यहा आते थे वे यहा के देवता, यहा की विभूति, यहा के बापूजी के थोडे ही ससर्ग मे अपने को भाग्यवान् और समृद्ध बनाकर जाते थे। बहुतेरे शकाशील यहा आये है और श्रद्धा का प्रसाद लेकर गये है और अपने सहवासियो मे उसे बाटते रहे है। प्रखर बुद्धिशाली यहा आये है और उनकी बुद्धि ने हृदय के गुणो को चूमा है एव हृदय ने बुद्धि पर विजय प्राप्त की है। निराशा, दु खी, शोकित, सतप्त और पतित जनो को तो यह अपना ठौर मालूम होता था। बुद्ध और ईसा के बाद यदि किसीने उनको अपना प्यारा कहा है, अपना बन्दा समझा है, उनकी करुण दशा पर किसीके हृदय मे तीर चुभे है, किसीकी आखो से दुलार बरसा है, किसीकी आत्मा को घोर व्याकुलता हुई है तो वह आपको इसी आश्रम के एक झोपडे मे मिलेगी। राम की मर्यादा और कृष्ण का योग, कौशल और आकर्षण, बुद्ध का वैराग्य और दया-धर्म, ईसा का कष्ट-सहन, हरिश्चन्द्र का सत्य-पालन, भीष्म की प्रतिज्ञा और अर्जुन का रण-कौशल---इनका उचित सम्मिलन बीसवी सदी मे यदि कही मिल सकता था तो वह इसी आश्रम के एक कोने मे। देश के गरीबो की हड्डियो मे थोडा मास, नसो मे खून की बूदे और पेट मे दो रोटी डालने के लिए दुनिया मे आजतक यदि किसीने लगोटी लगाई है, चर्खा-यज्ञ का आविष्कार और प्राणात होने की अवस्था तक इसका अनिमेष पालन यदि किसीने

किया है, अपने लिए नही, शिक्षित और बुद्धिशाली कहलाने वाले अपने मुट्ठीभर साथियो के लिए नही, बल्कि दुनिया के एक गरीब-से-गरीब और भिखारी-से-भिखारी के लिए स्वराज्य का कार्यक्रम बनाने वाला, उसीके लिए जीने और उसीके लिए मरने वाला, यदि कोई था तो वह साबरमती का बूढा कृश कलेवर तपस्वी ही। मेरे ही नही, मुझ जैसो के ही नही, बल्कि मेरी राय मे सारे भारत के बापू के इस आश्रम मे रहने का अवसर जिसे मिला वह अपने सौभाग्य पर जितना नाज करे थोडा है। इस खुशी के बदले मे कि मेरा जन्म महात्माजी के युग मे हुआ, यही नही, उनके युग में मैं जीवित हू, और इससे भी बढकर उनके चरणो मे रहने का पुण्य मिला और उनके जीवन-काल मे यत्किचित सेवा से अपने जीवन को कृतार्थ किया, अपने जीवन मे कुछ आशा, कुछ प्राण और कुछ श्रद्धा का अनुभव किया, यदि मुझे सदेह स्वर्ग मिलता हो तो मेरे नजदीक उसका कुछ मूल्य नही। भारत मे इस समय हजारो नही, लाखो लोग ऐसे होगे जिन्हे आश्रम के इस ब्रह्मा के चुम्बक का अनुभव हुआ है और जो मेरी तरह अपनेको धन्य मानते है।

जबतक कुजी हमारे हाथ नही लगती तबतक हम किसी भवन या उपवन के सच्चे सौन्दर्य का स्वाद नही ले सकते। आश्रम का भी अत -सौन्दर्य देखने के लिए कुजी हाथ लग जाने की बहुत जरूरत है। आश्रम के विधाता आत्मार्थी, मुमुक्षु, अतएव अतर्मुखवृत्ति वाले थे। इसलिए आश्रम का जीवन बहती हुई नदी के सदृश नही, बल्कि गहरे कुए की तरह अथवा चारो ओर दुर्गम पहाडो से घिरे गम्भीर तालाब की तरह था। बाहरी झाकी को, ऊपरी काम को देखने और उसकी कदर करनेवाले भाइयो को यदि आश्रम-जीवन बहुत अश मे अपील न करता हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही। ईश्वर की कृपा समझना चाहिए जो मुझे यह कुजी थोडे श्रम मे मिल गई।

: ४ :

सर्वोदय की प्रयोगशाला

मेरे खयाल मे आश्रम महात्माजी के सोचे हुए स्वराज्य या 'राम-राज्य' या सर्वोदय की एक छोटी-सी प्रयोगशाला है। महात्माजी की आदर्श समाज-व्यवस्था मे किसी सरकार को अर्थात् शासक-मडल को स्थान नही है। समाज मे हुकूमत करनेवालो की आवश्यकता का होना वे समाज की त्रुटि या कमजोरी मानते है। उनकी राय मे समाज की सुविधा के लिए एक व्यवस्थापक-मडल का होना काफी है। परन्तु जबतक समाज के सभ्य स्वय ही अपने बनाये नियमो का पालन न करेगे, पच की मारफत अपने हर तरह के झगडो को न मिटा लेंगे और एक-दूसरे को नुकसान पहुचाने, एक-दूसरे से नाजायज फायदा उठाने के बजाय एक-दूसरे के हित का पूरा-पूरा खयाल न रक्खेगे, एक-दूसरे की सहायता न करेगे, अपना-अपना भला सोचने के बजाय एक-दूसरे का भला सोचने की आदत न डालेगे, तबतक समाज मे ऐसी सस्था और ऐसे लोगो की जरूरत रहेगी जो अपनी सत्ता के बल पर लोगो को सुख शान्ति से रहने और अपनी उन्नति करने पर मजबूर करे। अपने और समाज के हित के कामो को स्वय खुशी-खुशी करने के बजाय किसी सस्था या व्यक्ति के दण्ड के भय से मजबूर होकर करने मे मनुष्य का कुछ भी गौरव नही है, परन्तु जबतक मनुष्य इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझ नही लेता, अपने गौरव का यथार्थ मूल्य आकना सीख नही लेता और इसमें अपना अपमान समझने नही लगता, तबतक सत्ताधारियो की जगह समाज में जरूर रहेगी। और

समाज की यह आदर्श अवस्था यदि अच्छी चीज है, यदि व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए ऐसी आदर्श अवस्था अनुकूल और सहायक है तो समाज के जिन धुरीणो ने इस बात को पहचान और समझ लिया है उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे समाज को उस दिशा मे ले जाने की, समाज मे उन गुणो की वृद्धि करने की चेष्टा करे। यह काम तभी कुछ सफल हो सकता है जब इस आदर्श को पसन्द करने वाले लोग एकत्र होकर, एक जगह रहे और अपनी मनचाही आदर्श अवस्था को ध्यान मे रखकर तदनुसार अपने और अपने साथ रहने वालो के जीवन को बनाने का यत्न करे। जहातक मैने समझा है, महात्माजी ने सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना करके समाज को अपने आदर्श की दिशा दिखाने के प्रयोग का आरम्भ किया था।

आश्रम मे उस समय कोई २५० स्त्री पुरुष और बालक रहते थे। बालको की शिक्षा के लिए एक विद्या-मदिर भी था। आश्रम-वासियो के उपयोग के लिए एक गोशाला और कोठार भी था। दुग्धशाला और चर्मालय भी खुला था, जो कि गो-रक्षा के प्रयोग-रूप था। खेती और कताई-बुनाई तो थी ही। सुबह-शाम की प्रार्थना एक आध्यात्मिक भोजन और सामाजिक सम्मेलन का काम देती थी। इन सब कामो के लिए वहा कोई शासक सस्था नही, सिर्फ व्यवस्थापक मडल था, जिसको आश्रमवासियो ने चुनकर बनाया था। आश्रम के नियमो और व्यवस्थापक-मडल के प्रस्तावो का पालन लोग अपनी जिम्मेदारी समझकर करते थे, किसी सत्ता या दड के भय से नही। दड का स्थान वहा प्रायश्चित्त ने लिया था। प्रायश्चित्त स्वय किया जाता है दड दूसरा देता है। वहा आश्रम मे अपनी भूल मालूम होने पर स्वय प्रायश्चित्त करते थे और प्रायश्चित्त के बाद वे आश्रम मे अप्रतिष्ठा की दृष्टि से नही देखे जाते थे। कोई दूसरा उन्हे प्रायश्चित्त करने पर मजबूर नही करता था। मुखिया अथवा व्यवस्थापक-मडल उनको उनकी भूल बता देता था। छोटे-छोटे बालको और विद्यार्थियो तक को ऐसी आदत डालने की कोशिश की जाती थी कि उनकी

शिक्षण-प्रणाली में न दड को स्थान था, न लोभ को । आश्रमवासी कोई काम न दड के भय से करना पसन्द करते थे और न पारितोषिक के प्रलोभन से । वे अपना कर्तव्य समझकर, फिर वह चाहे कड़ुआ हो या मीठा, उसे करना पसन्द करते थे । वहा विचार करने और उसे प्रकट करने की पूरी स्वाधीनता थी, पर साथ ही बुरे विचार मन में न आने देने तक की सावधानी रखने का प्रयत्न किया जाता था और ऐसा होने पर प्रायश्चित्त करने मे देरी नही की जाती थी । आश्रम-वासी जितने ही अपने को स्वाधीन समझते थे, उतने ही सयमशील रहने का भी प्रयत्न करते थे । स्वाधीनता के भाव की वृद्धि के साथ-ही-साथ सयम के भाव की भी वृद्धि करना जरूरी है । आश्रम में स्त्री-पुरुषो के कर्तव्यो, कार्यों और अधिकारो मे पूरी समानता है । कोई भी स्त्री किसी आश्रमवासी से स्वतन्त्रता के साथ मिल सकती है, बातचीत कर सकती है । साथ रहकर काम कर सकती है, परन्तु इस जिम्मेदारी और भाव के साथ रहने की कोशिश करते थे कि हम भाई-बहन है । जो मनुष्य जितना ही अधिक सयमी होता है, वह उतना ही अधिक स्वाधीनता का अधिकारी अपनेको मानता है। दड और प्रलोभन ये सरकारो के मुख्य शस्त्रास्त्र होते है । इन दोनो से बचने की कोशिश आश्रम मे की जाती थी । सहिष्णुता, उदारता, सेवा, सहयोग का भाव, स्वावलम्बन, सादगी, सरलता, सचाई, तेजस्विता-जात-नम्रता, ये वे मुख्य गुण है जिनके विकास पर ही समाज राजसत्ता के बोझ से बच सकता है । एक और वृत्ति भी है जिसके अभाव को राजसत्ता की नींव कहना चाहिए। वह है दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य का तो यथावत् पालन करना, परन्तु यह न चाहना कि हम तभी अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे जब दूसरा भी हमारे प्रति अपने कर्तव्य का पालन यथावत् करेगा । हमारा काम है अपने कर्तव्य का पालन करना। दूसरा यदि नही करता है तो वह मनुष्य और ईश्वर के सामने दोषी है। उसकी देखा-देखी यदि हम भी उस दोष को अपनाने लगे तो दोनो मे मनो-मालिन्य और सघर्ष पैदा होगा और यही स्थिति शासक-मडल को जन्म

देनेवाली होती है। आश्रम के सचालको ने इसको खूब समझ लिया था और इसलिए वे जो कुछ करते थे निरपेक्ष होकर करना चाहते थे। सापेक्ष्य भाव को वे वणिक्-वृत्ति मानते थे। आदर्श समाज और व्यवस्था के लिए ब्राह्मण-वृत्ति की आवश्यकता है। ब्राह्मण-वृत्ति का अर्थ है ज्ञान, त्याग और सेवा। इस वृत्ति को प्राप्त करने की चेष्टा आश्रमवासी करना चाहते थे।

शोहरत और बनावट सच्चे और पुख्ता काम के भयकर शत्रु है। इसलिए आश्रमवासी इन दोनो से बचना चाहते थे और इसीलिए बाहरी बातो को देखनेवाले आश्रम की सादगी मे विशेषता नही पाते थे। पॉलिश की हुई चीजो को देखने की जिसे आदत पड रही है उसे खान का निकला स्वाभाविक शुद्ध सुवर्ण एकाएक नही जच सकता। आश्रम मे अच्छे सस्कार तो माने जाते थे, पर उनको लोकाचार का रूप नही दिया जाता था। वे उनकी उन्नति के लिए, विकास के लिए किये जाते थे, दुनिया की नजर मे भला और बडा बनने के लिए नही। आश्रमवासी बालको, अन्य सभ्यो मे शहर के रहनेवाले लोगो मे जो बनावटी व्यवहार-चातुर्य दिखाई देता है, उसकी जो कमी बाज लोगो को खटकती है, उसका कारण है आडम्बर और मिथ्या लोकाचार की ओर अरुचि।

आश्रम-जीवन का अध्ययन करने के लिए, उसका मर्म समझने के लिए आश्रम के हृदय को समझना जरूरी है, उसकी तह मे गोते लगाने की आवश्यकता है। चर्म-चक्षुओ से नही, अन्तरात्मा के चक्षुओ से देखने की यह चीज थी। मैने इसी तरह उसे देखने का यत्न किया है।

: ५ :

बापू की महिमा

जब मै पूज्य बापू के चरणो मे पहुचा तब युवराज के स्वागत-बहिष्कार-आन्दोलन की धूम थी। विदेशी कपडो की होली पहली बार

बम्बई में जलाई गई थी और जगह-जगह होलियो का ताता लगने लगा था। गाधीजी एक तूफानी जीव थे। उन्ही दिनो ग्वालियर के स्वर्गीय महाराजा ने एक जगह कहा था कि यह महात्मा अद्भुत आदमी है। नाम शान्ति का लेता है और जहा कही जाता है वहा अशान्ति मचाता है। यह एक अर्थ मे ठीक ही था, क्योकि महात्माजी शुरू से आखिर तक क्रातिकारी थे। जीवन का कोई अग या क्षेत्र ऐसा नही था जिसे उन्होने छुआ न हो, जिसमे उन्होने क्रान्ति की प्रेरणा न की हो, उथल-पुथल न मचाई हो। अत हर किस्म के लोगो का ताता उनके पास लगा रहता था। विरोधी और अनुयायी दोनो उनको घेरे रहते थे। वे समय की पाबन्दी के साथ ही मर्यादा-पालन का बडा खयाल रखते थे। शिष्टता व नम्रता के तो वे अवतार ही थे। अपनी बात पर दृढ रह-कर भी सामनेवाले के प्रति अत्यन्त सभ्यता, सौजन्य व सद्भाव रखना उनका स्वभाव-धर्म हो गया था। उन्ही दिनो एक दिन बम्बई मे कुछ पारसी महिलाए महात्माजी से मिलने आई। मणिभवन का उनका छोटा-सा कमरा भेट करनेवालो से भरा हुआ था। महात्माजी को जल्दी ही कहीं—शायद किसी सभा में—जाना था। पारसी बहनो को वे स्वदेशी व खादी का महत्व समझा रहे थे। इतने मे उस सभा से सबधित कोई भद्र पुरुष उन बहनो के बीच में घुसकर महात्माजी से बातचीत करने लगे। उन्हे जल्दी थी, शायद सभा के सिलसिले मे ही कोई जरूरी बात महात्माजी से करनी थी। लेकिन उनका यह बीच में दखल देना, खासकर बहनो के बीच में धँसकर, महात्माजी को नही सुहाया। उन्होने जरा आख तरेरकर पूछा—"क्यो, क्या बात है ?"

वे भाई सहम गये। बोले, "बापू, कुछ जरूरी बात पूछनी है।"

"हा, मगर कुछ विवेक भी तो रखना चाहिए न ?" उन्होने कुछ तेज स्वर में कहा।

वे सज्जन पसीना-पसीना हो गये। मैंने इससे सबक सीखा।

× × ×

बहुत करके उन्ही दिनो मैंने एक घटना किसीसे सुनी थी। मणि-भवन के एक घाटी* को किसी देश-भक्त ने, जो महात्माजी के निकट-वर्तियो मे से था, किसी बात पर थप्पड मार दिया था। महात्माजी को खबर लगी तो दोनो को बुलवाया और कहते हैं कि महात्माजी ने उन महाशय से घाटी की माफी मगवाकर प्रायश्चित्त के तौर पर उसे साष्टाग नमस्कार करवाया। उन्हे यह सहन नही हुआ कि एक सभ्य, शिक्षित, देश-भक्त कहलानेवाला व्यक्ति एक नौकर तक पर हाथ उठावे, उसका इतना अपमान करे। मनुष्यता मे वे सबको बराबर मानते थे। शरीर-श्रम को जीवन मे वे प्रधानता देते थे और इसीलिए जो शरीर-श्रम करते है, उनके प्रति वे वैसा ही समभाव रखते थे जैसा कि पढे-लिखे नागरिको के प्रति।

: ६ :

दो मजेदार घटनाएं

कई बार महात्माजी के सामने आकर लोग हतप्रभ हो जाया करते थे। जो कुछ सोच-साचकर आते थे, भूल जाते थे और कुछ-का-कुछ कहने लगते थे। इस तरह की दो घटनाए मेरे सामने हुई है। एक तो इन्ही दिनो बबई की है। एक गुजराती सज्जन सपत्नीक मिलने आये। शायद विलायत से आये थे। सूट-बूट से लैस। महात्माजी किसी काम मे उठ खडे हुए थे——शायद कमरे के बाहर जा रहे थे कि दरवाजे पर ही इस महापुरुष से भेंट हो गई। खडे-खडे ही बातें होने लगी। उन्होने अपना परिचय दिया कि जब आप इगलैंड मे थे तब गुजरातियो की ओर से एक सभा बुलाई गई थी, जिसमे आपका भाषण हुआ था। उसका मै ही सेक्रेटरी था। महात्माजी कुछ याद करने लगे। इतने ही

* बम्बई मे घरेलू नौकरो को घाटी कहते है।

में वे फिर बोले, "उस सभा में आपने इग्लैंड के गुजरातियो से कहा था कि यहा आपको आपस में अग्रेजी में ही बातचीत करना चाहिए ।"

महात्माजी को सुनकर ताज्जुब हुआ। पूछा—"मैंने क्या कहा था ?"

"यह कि...अगरेजी मे ही बातचीत करना चाहिए ।"

"क्या 'अग्रेजी में' कहा था ?"

"जी हा !"

"तो फिर वह कोई दूसरा गाधी रहा होगा। मैंने तो यह कहा था कि यहा गुजरातियो को गुजराती में बातचीत करना चाहिए ।"

अब तो वे साहब अपनी भूल समझ गये । बहुत झेंपे और कहने लगे, "साहब, बडी भूल हुई । मै उलटा कह गया ।"

उस समय का दृश्य विचित्र था । वे साहब अप-टू-डेट अग्रेजी लिबास में थे। महातमाजी सिर्फ गुजराती ढग की धोती पहने हुए थे, सारा बदन नगा था। उस समय कच्छ या लगोट जैसी धोती पहनना शुरू नही किया था । पश्चिमी व पूर्वी सभ्यता के खासे दो नमूने थे । मुझे जहा तक याद है, साहब अग्रेजी बोलते थे, गाधीजी गुजराती मे जवाब देते थे । गाधीजी का यह स्वदेशी-धर्म या मातृभाषा-प्रेम देखकर मै गद्गद् हो गया ।

एक दूसरी घटना वर्धा की है । एक लडकी महात्माजी के पास आश्रम मे रहती थी । उसके पिता ने उसकी शादी लडकी की इच्छा के खिलाफ कही तय कर दी । उस समय लडकी पिता के पास थी । वह चुपके से भाग कर महात्माजी के पास आगई । माता-पिता समझ गये कि आश्रम मे गई होगी। उनका बडा क्रोध-भरा पत्र महात्माजी के पास आया । लिखा कि हम सारा किस्सा आपको सुनाने और लडकी को लिवाने वर्धा आ रहे है । महात्माजी की तरफ से स्व० श्रद्धेय जमनालालजी उनको लेने स्टेशन गये । माता-पिता दोनो रात के वक्त सत्याग्रहाश्रम (वर्धा) के ऊपर वाले कमरे में महात्माजी से मिले । महात्माजी ने उस समय लडकी को भी वहा बुला लिया था । जमनालालजी

दोनो को लेकर कमरे में दाखिल हुए। दम्पती ने बड़े भक्तिभाव से सिर टेककर महात्माजी को प्रणाम किया। महात्माजी ने हसकर उनके प्रणाम का उत्तर देते हुए पूछा—"रास्ते मे किसी प्रकार का कष्ट तो नही हुआ ?"

"नही महात्माजी, यहा आने में कष्ट कैसा ! यह तो हमारा अहो-भाग्य है कि आपके दर्शन हुए।"

"अच्छा, को लिवाने आये हो। ले जाओ ! यह सामने बैठी है।"

"नही, यह तो आपकी बेटी है, यही रहेगी।"

"तो फिर ठीक है, यही रहेगी।" हसते हुए उन्होंने जवाब दिया और लडकी की ओर मुखातिब होकर कहा, " ,तो तुम यही रहो। देखो, पिताजी जबतक यहा रहे, इन्हे किसी बात का कष्ट न हो। इनकी खूब सेवा करना।"

जमनालालजी और हम लोग हक्का-बक्का रह गये। समझ रहे थे कि आज बापू के सामने कोई दृश्य जरूर होगा, लडकी की कुछ मुसीबत होगी, बापू को कुछ बुरा-भला सुनना पडेगा। पर बात बिल-कुल उलटी हुई। उनका गुस्सा न जाने कहा चला गया। जो लडकी को लेने आये थे सो उलटा देकर चले गये। यह बापू की अहिंसा की पूर्ण विजय थी—चमत्कार था। विरोधी मित्र बन गया। अक्रोध ने क्रोध को जीत लिया। शाप वरदान होकर सामने आया।

: ७ :

विनम्रता की मूर्ति : नाथजी

मैं व भाई बैजनाथजी अहमदाबाद गये ही थे। स्वामी आनन्द के चलाये 'नवजीवन क्लब' मे रहते थे। जिस कमरे मे हम लोग बैठा करते थे उसीमे एक दिन एक हृष्ट-पुष्ट गोरा-सा व्यक्ति आया। मोटी

खादी की धोती, वैसा ही कुरता, टोपी, बगल में एक बड़ा-सा झोला। शायद एक ही दिन वह वहा रहा। उन दिनो स्वयसेवको की भर्ती चल रही थी। हमने समझा, कोई स्वयसेवक देहात से आया है। उसकी बातचीत, व्यवहार से किसी विशेषता का कोई आभास नही मिलता था। चेहरा अलबत्ते शान्त व तेजस्वी था। एक तो वह अपरिचित व्यक्ति, दूसरे हमे अपने काम से काम था। हमने उसकी तरफ कोई ध्यान नही दिया। उठने-बैठने आदि मे मामूली स्वयसेवक की तरह ही हमने उसके साथ व्यवहार किया। उसने भी हमारे इस व्यवहार पर अपनी नाराजगी नही झलकाई, कभी सकेत मे भी उलाहना नही दिया।

एक-दो दिन के बाद स्वामी आनन्द न हमसे कहा—"चलो, आश्रम चलेगे। वहा नाथजी आये है।" हमने पूछा कि नाथजी कौन है? उन्होने कहा, किशोरलालभाई के गुरु है। हमारी श्रद्धा बढी। साबरमती-आश्रम में किशोरलालभाई के घर हम गये। वहा बडे आदर के स्थान पर एक परम शान्त और तेजस्वी मूर्त्ति को देखा। देखते ही हम सकपका गये। अरे, यह तो वही है जिन्हे हमने एक मामूली स्वयसेवक समझा था। अब हमे काटो तो खून नही। हमने लज्जित होकर उनसे क्षमा मागी। उन्होने कहा—'आप लोगो ने मुझे मामूली आदमी समझा, सो ठीक ही था। किशोरलालभाई मुझे गुरु मानते है तो क्या मै सबका गुरु हो गया? और गुरु होना भी कोई बडी बात नही है। मुझे आध्यात्मिक विषयो का कुछ अनुभव है। उनसे किशोरलालभाई को लाभ हुआ, उनकी गुत्थी सुलझ गई तो इसमें कौन बडी बात है? इसमे मैने किया ही क्या? साधारण मनुष्य का कर्तव्य एक-दूसरे को सहायता देना है। वही तो मैने किया। इसमें मैं अपनी क्या विशेषता या बडप्पन समझू! आप लोगो को सकुचाने की जरूरत नहीं है।" इस आशय के उनके उद्‌गारो ने तो हमारा हृदय और भी जीत लिया। बापू के आश्रम मे यह तो बापू-सा ही विनयशील व मानवता का दूसरा नमूना देखने को मिला। जब कभी भी बाद में हम लोग पूज्य

नाथजी से मिले है और आदरपूर्वक झुककर प्रणाम किया है तो उन्होंने उसपर उलाहना दिया है। जब हम लौटे है तो खुद उठकर दरवाजे तक पहुचाने आये है। हमारे मना करने पर भी वे इस नियम या स्वभाव का पालन बराबर करते है। सच्ची विशेषता वह है जिसे दूसरे अनुभव करे, किन्तु हम उससे अनजान रहें।

मुहम्मद पैगम्बर के जीवन-चरित मे मैंने पढा है कि जब वे जमात में बैठते तो नये आदमी को सहसा पहचानना मुश्किल होता था कि हजरत मुहम्मद कौनसे है। ऐसी साधारण वेश-भूषा व रहन-सहन उनकी थी। व अपने घुटने सिकोड कर बैठते थे कि पासवाला व्यक्ति सकोच से सिकुड कर न बैठे। उसे बैठने के लिए काफी जगह मिले।

: ८ :

बापू की महानता का मूल

बापूजी विनय के अवतार थे। वैसे वे जीतेजी ही बिन्दु मे सिन्धु हो गये थे, परन्तु मरने के बाद तो सिन्धु से विभु हो गये। पहले जो विशाल समुद्र था वह अब व्यापक आकाश हो गया। यह हुआ उनके रजकण बनने की साधना मे। वे कहा करते थे कि मनुष्य को महान् बनने के लिए रजकण बनना चाहिए। उन्होंने अपने जीवन मे रजकण बनने की जबरदस्त साधना की। उन्होंने बडे-बडे और अद्भुत काम कर डाले, परन्तु कई बार उन्होंने कहा कि मैं अपने को खोखला पाता हूँ भगवान् की शक्ति से ही मैं ऐसे प्रचण्ड काम कर पाता हू। जो रजकण या शून्यवत् बन जाता है वही भगवान् की शक्ति को पा सकता है। महात्माजी को सब लोग केवल बडा नेता ही नही, बल्कि महापुरुष मानते थे। उन्होंने भारतवर्ष मे मिट्टी से महापुरुष पैदा कर दिखाये। स्व० हकीम अजमलखां उन्हीके समय मे नेता हुए थे; बल्कि यह कहे

तो हर्ज नही कि वे उनके ही बनाये हुए नेताओं मे से थे। एक बार वे महात्माजी के आश्रम—सत्याग्रह आश्रम साबरमती—में गये। जहा तक मुझे याद है, यह १९२४–२५ की बात है। शाम का समय था। आश्रम मे शाम को सूर्यास्त के पहले ही खा लेने का रिवाज था। हकीम साहब को महात्माजी के यहा खाना खाना था। महात्माजी की कुटिया मे पूज्य बा खाना बना रही थी और बापूजी खुद ला-ला कर परोस रहे थे। खाना बनानेवाले या परोसनेवाले दूसरे लोग न हो सो बात नही थी। महात्माजी ने इस अतिथि का सत्कार इस रूप से करना ही ठीक समझा था। एक शरीफ मुसलमान को आर्य-आदर्श का नमूना बताना था। महात्माजी के मन मे हिन्दू-मुसलमान भेद जैसी कोई चीज नही थी। फिर भी हिन्दुत्व का उत्तम आदर्श अपने जीवन के द्वारा उपस्थित करना उन्हे बहुत प्रिय था। इसमे उनकी अतिथि-सत्कार की भावना ही नही, अपने को रजकण बनाने की साधना भी समाविष्ट थी। जब हकीम साहब खाना खा चुके तो बापूजी खुद लोटा लेकर हाथ धुलाने लगे। उस समय में वहा मौजद था। और भी दो-तीन आश्रमी थे। मेरे मन मे आया कि बापूजी के हाथ से लोटा ले लू, परन्तु जल्दी में सूझा नही कि क्या करूँ ? मै बापूजी की इस महानता पर मन-ही-मन मुग्ध हो रहा था। इतने मे ही एक और घटना हुई जिसे देखकर मै हैरान रह गया।

खाना खाकर हकीम साहब आश्रम के बरामदे से नीचे उतरने लगे। पत्थर की दो-तीन सीढिया थी। शाम का समय था। हकीम साहब को कुछ रतौंध आती थी। महात्माजी उनका हाथ पकड कर सीढ़ी की तरफ बढे। हकीम साहब के जूते सीढी की तरफ रखे हुए थे। उनका मुह घर की तरफ था। मै हकीम साहब और महात्माजी के ठीक पीछे-ही-पीछे सीढी उतर रहा था। मेरे मन मे आया ही था कि आगे लपक कर जूतियो का मुह सीधा कर दू। इतने मे ही महात्माजी ने अपना हाथ आगे बढाया और दोनो जूतिया उठाकर सीधी कर दी और एक सीढी ऊपर उनके पहनने के लिए रख दी। मै मन मे शर्मिन्दा तो हुआ

ही, पर महात्माजी की इस विनयशीलता पर कुर्बान भी हो गया। मैंने मन में सोचा कि कम-से-कम जूतियों के लिए तो महात्माजी हममें से किसीको इशारा कर ही सकते थे, परन्तु यह गौरव उन्होंने खुद ही लिया। अपने को ही उसका अधिकारी समझा। हम छोटे लोग ऐसे समय में अपने से छोटे लोगों से ऐसा काम लेते हैं और समझते हैं कि इस तरह हमने अपने बड़प्पन की रक्षा की। परन्तु महात्माजी को तो असली महानता प्राप्त करनी थी—रजकण बनना था। यह घटना और महानता का यह आदर्श मेरे मन में सदा के लिए अंकित हो गया। जब कभी छोटा या हल्का काम करने के अवसर आते हैं तब यह घटना हृदय में अपूर्व प्रेरणा और बल देती रहती है। महात्माजी के प्रचण्ड कामों ने उन्हें इतना बड़ा नहीं बनाया जितना उनके जीवन की इन छोटी-छोटी घटनाओं ने। वास्तव में इन छोटी घटनाओं में जीवन के ऐसे एकान्तिक प्रसंगों में ही मनुष्य के विशाल और महान् बनने के बीज समाये रहते हैं।

: ९ :

सत्याग्रही बापू

१९२१ में अहमदाबाद कांग्रेस हुई। प्रतिनिधियों आदि के लिए जो स्थान पण्डाल आदि बनाये गये थे वे सब खादी के थे। अतः उसका नाम खादी-नगर रक्खा था। कांग्रेस के इतिहास में खादीमय नगरी का यह पहला दृश्य था। देशबन्धुदास सभापति होने वाले थे, किन्तु वे तथा प० मोतीलालजी नेहरू, जो उस समय शायद कांग्रेस के प्रधान मंत्री थे, गिरफ्तार कर लिये गए थे और हकीम अजमलखां सभापति हुए थे। इन गिरफ्तारियों के कारण इस अधिवेशन में बड़ी सनसनी फैली हुई थी। लोगों के जोशोखरोश का ठिकाना नहीं था। युवराज के स्वागत-बहिष्कार के सिलसिले में सत्याग्रह—सविनय-कानून-भंग—आन्दोलन चल

रहा था, परन्तु सत्याग्रह के सिद्धान्त व नियम अभी सबकी समझ में पूरे-पूरे नहीं आये थे। सत्याग्रह का एक नियम यह भी है कि जेल चले जाने के बाद हमारी नागरिक मृत्यु हो जाती है। बाहर के कामों में दखल देने लायक हम नहीं रह जाते। अत सत्याग्रही कैदियो के लिए यह नियम व आदेश था कि वे जेल मे से बाहर के आंदोलनो या दूसरे कामों के लिए हिदायतें, सूचनाए या आदेश न दें। बाहर के काम बाहर रह जाने वालो की जिम्मेदारी पर छोड दें, क्योंकि बाहर की परिस्थिति को वे जानते या जान सकते नहीं और बाहर वाले उनसे आजादी से मिलजुल कर बातचीत कर सकते नहीं। ऐसी दशा में इस प्रकार जेल से आन्दोलन चलाने मे सिवा हानि के कोई लाभ नहीं, किन्तु इसके विपरीत उस अधिवेशन के मौके पर कई नेताओ ने अपने-अपने विचार व सूचनाए महात्माजी तक पहुचाईं। जहातक मुझे याद है इनमें देशबन्धु, प० मोतीलालजी व मौ० आजाद भी थे। जब ये सदेसे गाधीजी तक पहुंचे तो उन्होंने कहा, "ये सब हमारे बडे नेता है, परन्तु नागरिक के नाते अब उन्हें कुछ सुझाने या करने का हक नहीं है। हम इनकी बातो पर गौर नही कर सकते। हम बाहर हैं, जो सारी परिस्थिति को जानते हैं। हम जैसा ठीक समझेंगे, निर्णय करेंगे। उन्हें हम लोगो पर विश्वास रखकर जेल मे शान्त व निश्चिन्त रहना चाहिए।" कितने निर्भय होकर गाधीजी ने बडे-बडे नेताओ के हस्तक्षेप के प्रभाव से अपने को किस दृढता से बचाया, यह देखने योग्य है। इसमें केवल उनके नेतृत्व का ही नही, बल्कि सच्चे सत्याग्रही का गुण टपकता है।

× × ×

इसी अधिवेशन में उनकी व्यवहार-कुशलता व सत्याग्रही इलाज का एक नमूना देखिए। महासमिति (A I C C) की बैठक हो रही थी। कलकत्ते के एक कार्यकर्त्ता, श्री बडे, गोरक्षा मे बहुत दिलचस्पी लेते थे। भले व सच्चे आदमी थे। गोरक्षा पर किसीने कोई प्रस्ताव भेजा था। जहातक मुझे याद है, कानूनन गोरक्षा बन्द करने के सम्बन्ध में था। गाधीजी ने राय दी कि यह प्रस्ताव काग्रेस में लाना

मौजू न होगा। इसपर बडे साहब जिद पकड गये कि यह प्रस्ताव लेना ही होगा। हकीम साहब सदर थे और महात्माजी उनकी मदद कर रहे थे। सदर साहब ने बडे साहब को ज़िद छोडने के लिए व बैठ जाने के लिए कहा। दो-तीन बार उनके मना करने पर भी वे खडे-खडे कहते ही रहे, यह प्रस्ताव लेना ही पडेगा। तब सदर साहब ने मजबूर होकर कहा कि आप मेरा आदेश नही मानते है तो सभा छोडकर चले जाइए। उसपर भी उन्होंने कहा कि मै नही जाऊगा। दो तीन बार ऐसा हुक्म दिया गया, पर वे टस-से-मस न हुए। अब सभा मे हलचल शुरू हुई। क्या इन्हे पकडकर या पुलिस बुलाकर हटाया जाय ? लोग उन्हे हटाने की दिशा में ही तरह-तरह के उपाय सोचते थे, किन्तु गाधीजी ने एक नया ही सत्याग्रही उपाय सोचा। 'बुराई के साथ सहयोग नही करना चाहिए' इस नियम या सिद्धान्त मे से वह उपाय निकाला। उन्होने सभी सदस्यो से अनुरोध किया कि यदि श्री बडे सभा-स्थान से नही हटते है, सभापति के आदेश का पालन नही करते है, तो हम सब यहा से हट जाय। सब सदस्य व दूसरे लोग उठकर चले गये, अकेले बडे साहब खडे रह गये। इस अनुशासन व सत्याग्रही प्रतिकार-विधि का लोगो पर बडा असर हुआ। सब महात्माजी की मौलिकता, सूझ-बूझ की सराहना करने लगे।

: १० :

धीरज और उदारता

अहमदाबाद काग्रेस के बाद महात्माजी ने तय किया कि (ब्रिटिश) सरकार को एक साल की अन्तिम चेतावनी दी जाय। इस बीच स्वराज्य की माग पूरी न हुई तो बारडोली में सामूहिक सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय, परन्तु चौरी-चौरा काण्ड के बाद उन्होने सत्याग्रह स्थगित करने की घोषणा की। कार्यसमिति में स्थगितता का प्रस्ताव

स्वीकृत हो चुका था व दिल्ली की महासमिति मे उसका समर्थन कराना था। उसमे महात्माजी का कसकर विरोध हुआ। खासकर सत्याग्रह स्थगित कर देने के लिए ज्यादातर लोग यह मानते थे कि कही किसी जगह हिसाकाण्ड होजाने से सुदूर बारडोली का सत्याग्रह कार्य-क्रम क्यो रोका जाय ? और यह तो सभव ही नही है कि इतने बडे देश के किसी कोने मे भी हिसा-कार्य न हो, जब कि सत्याग्रह के द्वारा इतनी हलचल लोगो मे मच रही हो श्री केलकर (अब स्व०) व उनके समर्थको ने महात्माजी को खूब आडे हाथो लिया। जब अहमदाबाद मे दिल्ली की ये खबरे पढी तो मुझे बडा दुख हुआ। इतना विरोध होने पर भी आखिर जीते महात्माजी ही। किन्तु उससे मैने दो नतीजे निकाले—(१) लोग महात्माजी के अहिसा सिद्धात को समझे नही है और (२) महात्माजी को भी वे एक चालबाज आदमी एव अहिसा को एक बहाना मानते है। अत जब महात्माजी साबरमती लौटे तो मैने उनसे कहा, "बापू, अबकी तो दिल्ली मे आपका बहुत विरोध हुआ। मुश्किल से आपकी जीत हुई ! यह तो शुभ चिह्न नही है।" उन्होने कहा—"विरोध से तो मैं खुश होता हू। खुला विरोध मुझे बहुत अच्छा लगता है। विरोध को मै अशुभ चिन्ह नही मानता। इस विरोध से मुझे विश्वास हो गया कि भारत के देशभक्त किसीसे दब नही सकते। जब मेरा मुकाबला करने को तैयार है, जिसपर उनकी इतनी श्रद्धा है तो फिर किससे दबेगे ? लेकिन बावजूद इस विरोध के लोगो ने वोट मेरे पक्ष मे दिये। शब्दो से मेरा विरोध करते थे, परन्तु कृति मे मेरे साथ हुए। इससे मुझे ज्यादा दुख हुआ। मेरे विचारो को नापसद करके मेरे प्रेम के लिए मेरे साथ वोट देना मै कमजोरी मानता हू और इससे मुझे अपनी सही शक्ति का अन्दाज नही होता।"

मैने बापू से कहा, "मालूम होता है, लोग आपकी अहिसा नही समझते। आपको भी वे एक चालाक आदमी मानते है, जो अहिसा की ओट में अपना काम करता है। इसीसे आपके इस कदम को समझ नही पाते और आपकी आलोचना करते है। अत ज्यादा अच्छा यह हो कि

आप सिर्फ दो बातो को लेकर सारे देश में जनता के पास जाइए। एक खादी, दूसरी अहिंसा—एक शरीर दूसरा प्राण। जबतक लोग इसे नही समझेंगे, आपकी कठिनाई सदा बनी रहेगी।"

उन्होने कहा—"मै एक बार जनता में हो आऊगा—दो बार हो आऊगा, मगर जिनका सदा जनता से सपर्क रहेगा वे तो है मेरे साथी दूसरे नेता व कार्य-कर्त्ता जो अपनी मर्जी के मुताबिक मेरी बातो का अर्थ जनता के सामने करते रहेगे। अत जबतक साथी लोगो को अच्छी तरह न समझा सकू, सीधा जनता तक जाने मे ज्यादा लाभ नही, क्योकि अर्थ का अनर्थ करना न करना साथियो के हाथ मे है।"

मैने कहा, "साथियो के समझने का काम तो बडा विकट है। उनकी हालत देखकर तो निराशा होती है।"

बापू हसकर बोले—"यही तो हमारी परीक्षा का समय है। जो कुछ ईंट, चूना, मसाला है सो सामने है। इसीसे भारत-माता का भव्य मन्दिर हमे बनाना है। हमारी तारीफ इसीमें है कि इसी मसाले को काम में लाकर उम्दा भवन बनाया जाय। सब सामग्री अच्छी हो और फिर इमारत बढ़िया बने तो कारीगर की क्या तारीफ ? मामूली कारीगर भी उसमें कामयाव हो जायगा। अत निराश व दुखी होने का कोई कारण नही है। ज्यादा दृढता, श्रद्धा व परिश्रम की जरूरत है। हम अपना काम सचाई व सगठन से करते रहेगे तो सब ठीक हो जायगा।"

मै नवीन उत्साह व स्फूर्ति लेकर लौटा। विरोधियो के प्रति उनकी उदारता, अपने को जितानेवालो की कमजोरी पर उनकी दृष्टि, उससे प्रसन्न न होकर उल्टा उसी पर चिन्तित होने की उनकी सत्याग्रही वृत्ति तथा विरोध, आक्रमण, व निराशा के बीच अपूर्व स्थिरता व आशावाद का वह अनुभव भुलाये नही भूलता। आज भी उनकी बातचीत का सारा चित्र, उनकी वह गभीर, किन्तु प्रसन्न व आत्मविश्वासमयी मूर्ति, ज्यो-की-त्यो मेरी आखो के सामने खडी हो जाती है।

: ११ :

आश्रम-संचालन

सत्याग्रहाश्रम, साबरमती से 'नवजीवन मुद्रणालय' ४-५ मील दूर था। मै आश्रम से प्राय पैदल दफ्तर—'हिन्दी नवजीवन'—जाया-आया करता था। जाती बार महात्माजी से अक्सर मिलकर जाता था, जिससे उन्हे प्रेस-मैटर देना हो तो साथ लेता जाऊ।

एक बार (सम्भवत १९२३-२४) में गया तो बापू को बडा उदास देखा। मुझसे पहले बहुत करके काका सा० (कालेलकर) या स्व० श्री मगनभाई गाधी उनसे मिलकर गय थे। मैने बापू से पूछा—कुछ मैटर है ? उन्होने मानो शून्य मे से निकलकर मेरी ओर देखा और बोले—"आज तो कुछ लिख नही पाया। ये आश्रम के प्रश्न ऐसे परेशान कर देते है कि कुछ पूछो नही। अभी गये है। उनका व का ऐसा मतभेद चल रहा है कि उमके मुकाबले स्वराज्य का प्रश्न सुलझाने मे मुझे कोई कष्ट नही होता। दोनो स्वच्छ-निर्मल व्यक्ति है। परन्तु अपने-अपने मत मे ऐसे दृढ है कि मिलकर काम करना असभव होता जाता है। स्वराज्य की बडी-बडी लडाइया लडते हुए मुझपर जरा भी जोर नही पडता, पर यह आश्रम चलाना बडा विकट काम है। फिर भी अपनी जान मे मेरी यह सर्वोत्तम कृति है।"

न मैने कभी आश्रम की समस्याओ के बारे मे बापू से कुछ कहा, न कभी बापू के ऐसे उद्गार मेरे सामने निकले—हालांकि मै उन समस्याओ से थोडा-बहुत परिचित तो रहता ही था; परन्तु मेरी भूमिका एक साधक या विद्यार्थी की थी; अपना स्थान या रास्ता छोडकर जाने

व बिला जरूरत गहरे पानी में पैठने की मेरी आदत भी नही है, परन्तु बापू उस दिन मानो भरे बैठे थे—किसी की मानो राह देख रहे थे कि मिलते ही हृदय उडेल दे। इत्तफाक से मै सामने आ गया। बापू के इन उद्गारो से मै सकपका गया, किन्तु दबी जबान से बोला—"बापूजी, ऐसा मालूम होता है हम लोगो में दूसरो की भावनाओ का खयाल रखने (Consideration for others) की कमी है, अपनी बातो का आग्रह अधिक है, दूसरो के दृष्टि-बिन्दु को समझने की प्रवृत्ति कम है।"

बापू—तुमने बिल्कुल ठीक कहा है।

इसके बाद मै अपना झोला उठाकर दफ्तर की ओर चल दिया। मेरे दिमाग मे बापू के ये शब्द अबतक गूजते है—'यह आश्रम चलाना स्वराज्य से भी विकट काम है।' अपनी सस्थाओ के सचालन मे जब क्लेश के अवसर आते है तो मै साथियो को बापू की यह बात सुनाया करता हू और खुद भी बहुत सान्त्वना पाता हू।

: १२ :

दो अवगुणों से बरी

इसी तरह एक दूसरे दिन दफ्तर जाते हुए जब मै बापू के पास गया तो उन्होने मुझे एक पोस्टकार्ड डाक मे डालने के लिए दिया। मै सहसा किसी की चिटठी-पत्री नही पढता हू। पोस्टकार्ड तक के लिए मै एहतियात रखता हू। किन्तु इस कार्ड मे सिर्फ दो-तीन ही सतरे थी। पेन्सिल से लिखा था। पता एक बडे नेता का था—इससे सहसा जानने की उत्सुकता हो आई। उसे मै रोक न सका। पढा—तो उसमे लिखा था—"आपके पत्र मे रोष है, इसलिए उसके उत्तर की कोई आवश्यकता नही समझता।" मै पढकर दग रह गया। जिन्हे यह पत्र लिखा गया था वे बडे तेजस्वी नेता थे। बडे छुईमुई भी थे। बापूजी

का यह पत्र कड़ा ही नहो, बडा रूखा भी था। मुझे डर लगा कि बापू से उनकी बिगड जायगी। परन्तु बापू का साहस भी खूब था। रोष बडे-से-बडे व्यक्ति का भी क्यो न हो, उसका क्या जवाब? वह या तो सहन किया जा सकता है या उपेक्षा के योग्य है। अधिक सोचना मेरे लिए 'अव्यापारेषु व्यापार' था, परन्तु यह उत्सुकता जरूर बढी कि यह मामला क्या है।

शाम को दफ्तर से लौटने पर बापू के प्राइवेट सेक्रेटरी से पूछा। उन्होने वह असली पत्र बता दिया जिसके जवाब में बापू ने यह कार्ड लिखा था। उसमे और बातो के साथ यह लिखा था .—

" ने आपसे यह शिकायत की है कि मै फिर से शराब पीने लगा हू। वे मुझसे जलन रखते हैं और मेरे खिलाफ झूठा प्रचार करते हे। जबसे मैने शराब छोडी है अबतक उसे छुआ भी नही है, परन्तु चूकि आपसे झूठी शिकायत की गई है, इसलिए उसके विरोध में अब मैने शराब पीने का निश्चय किया है।" ..आदि।

जिनका नाम इस पत्र मे लिखा था वे भी एक बडे नेता थे। वास्तव मे ऐसी कोई शिकायत उन नेता ने बापू से नही की थी।

बडे-बडे भी किस तरह गलतफहमियो के शिकार हो जाते है, सुनी-सुनाई बातो पर विश्वास करके कैसा कदम उठा लेते है, यह प्रकाश मेरे मन पर पडा। बापू ठीक ही कहा करते थे कि कोई बात तबतक मुह से न निकालनी चाहिए जबतक उसे सिद्ध न कर सको। हम लोग अक्सर कच्चे कान व लम्बी जबान के होते है। गाधीजी इन दोनो अवगुणो से बरी थे।

: १३ :

वीर की अहिंसा

गाधीजी ने 'अहिसा' को सत्य के समान ही परम धर्म माना व बताया है, परन्तु उनकी अहिसा कायर की नही, वीर की अहिसा है। जहा किसी तरह जान बचा लेने की भावना है वहा अहिसा नही। जहा खतरे से मुह मोडने, भाग जाने की सम्भावना है वहा अहिसा नही। इससे गाधीजी ने उस हिसा को श्रेष्ठ माना है जिसमे भय, सकट, हमले का सीधा सामना किया जाता हो। इसके कई उदाहरण है। एक-दो घटनाए मेरे सामने की है। शायद १९२३ की बात है। गुजरात के पचमहाल या गोधरा जिले मे हिन्दू-मुस्लिम दगा बड जोर का हुआ था। वहा से कुछ हिन्दू भागकर महात्माजी के पास साबरमती आये। मुसलमानो के अत्याचारो की उन्होने बडी शिकायते गाधीजी से की। सब बडे दु ख लेकिन शाति के साथ सुनकर गाधीजी ने उनसे पूछा, "तो तुम लोगो ने इसके मुकाबले मे क्या किया ?'

"साहब, क्या करते ? आपकी अहिसा ने हमारे हाथ-पाव सब बाध रखे हैं, इसीसे हमारी पिटाई होती है !"

इस जवाब से महात्माजी का चेहरा तमतमा उठा। वे कडे स्वर मे बोले—"सो तो ठीक है, पर मेरी अहिसा ने यह नही कहा था कि तुम लोग वहा से भागकर अपनी बुजदिली की रिपोर्ट मुझे देने आते ! मेरी अहिसा तो ऐसे समय पर मर मिटने का सदेश देती है। तुममे यदि मर-मिटने का साहस नही था तो अपने मत के अनुसार उस स्थिति का मुकाबला करना चाहिए था। तुमने मेरे मत को तो समझा नही और

अपने मत पर चलने की हिम्मत नहीं—तो मुझे अपना मुह दिखाने आने की क्या जरूरत थी ?"

× × ×

एक और घटना है जो साबरमती में ही किसी मित्र से सुनी थी। गुजरात विद्यापीठ की कुछ लडकियो ने शायद श्री किशोरलालभाई से पूछा कि लड़के कभी-कभी हमसे छेड़खानी करते है तो हम क्या करें। कैसे उसका प्रतिकार करें ? निश्चय ही वे अहिंसात्मक प्रतिकार का उपाय पूछ रही थी। किशोरलालभाई ने कहा—"तुम्हारे पैरो में चप्पल तो होते ही हैं, उठाकर मार दो।"

लडकिया चकित रह गई। अहिंसा के अनुयायी ने यह हिंसा का मार्ग कैसे बताया !

उन्होने कहा—"यह तो हिंसा हुई। यह तो हम जानती है। हम तो अहिंसात्मक उपाय जानना चाहती है।"

किशोरलालभाई—"तुमको इसमे शका हो या तुम्हारा समाधान न होता हो तो खुद बापू से जाकर पूछ लो।"

कहते है कि लडकिया बापू के पास गई। बापू ने कहा—"बस, किशोरलाल ने यही बताया। मै तो कहता हू कि यदि तुम्हारे पास छुरी हो तो तुम भोक दो, यदि तुम्हारे साथ कोई बलात्कार करना चाहे। इसे मै तुम्हारे लिए अहिंसा ही कहूगा।"

मतलब यह कि वे लडकियो को निर्भयता का पाठ पढाना चाहते थे, जोकि अहिंसा का असली गुण है।

: १४ :

अद्भुत सहनशीलता

गाधीजी की मूक सहनशीलता और दूरदर्शिता की एक घटना इस समय याद आ रही है। यह उस समय की बात है जब स्व० श्रद्धा-

नन्दजी ने मलखानो की शुद्धि का आन्दोलन उठाया था। उन्ही दिनो किसी प्रसग को लेकर महात्माजी ने आर्यसमाज, महर्षि दयानन्दजी के सत्यार्थप्रकाश, आदि की कुछ आलोचना की थी। हिन्दू, खासकर आर्य-ममाजी, मुसलमानो पर हिन्दू-स्त्रियो को उडाकर मुसलमान बना लेने का आक्षेप कर रहे थे। उन्ही दिनो एक-दो घटनाए ऐसी भी महात्माजी के कानो तक पहुची थी, जिनमें आर्यसमाजियो ने मुसलमान स्त्रियो को भगाकर या छिपाकर हिन्दू बनाया था—शुद्ध किया था। इसका भी उल्लेख या सकेत उनके लेखो मे था। इसपर हिन्दू-समाज खासकर आर्य-जगत् मे बडा हो-हल्ला मचा। शायद ही कोई आर्यसमाजी पत्र या व्यक्ति ऐसा बचा हो जिसने महात्माजी को आडे हाथो न लिया हो। महात्माजी के पास तो सैकडो विरोध के पत्र व तार आ ही रहे थे, हम लोगो के पास भी, जो उनके पत्रो के सपादकीय विभाग मे थे, पत्र-पर-पत्र चले आ रहे थे। एक दिन मैंने बापू से पूछा—"बापू, विरोधी पत्रो का ढेर लग गया है, आखिर इनका क्या किया जाय ? आप इनका कोई उत्तर या सफाई 'यग इडिया' मे क्यो नही दे देते ? और बातो के अलावा हिन्दुओ द्वारा मुसलमान लडकी को भगाने या छिपाकर शुद्ध करने की घटना पर कइयो ने बापू को चुनौती देकर कहा था कि ये गलत बाते है। मैंने बापू को सुझाया कि आप बिना प्रमाण के तो कभी कोई बात लिखते नही, जब आपने उल्लेख या सकेत किया है और लोग चुनौती-पर-चुनौती देते है तो वे प्रमाण क्यो नही पेश कर देते जिससे यह हल्ला बन्द हो जाय ?" बापू ने मुस्कराकर कहा—"मै जान-बझ कर चुप हू। अपनी चुप्पी के द्वारा ही मै आर्यसमाज की बडी सेवा व रक्षा कर रहा हू। इस समय मेरा यही धर्म है, क्योकि मै आर्य-समाज और आर्यसमाजियो का मित्र हू। उनकी यह असहनशीलता उनकी कमजोरी है। मुझ जैसे उनके मित्र की आलोचना पर तो उन्हे गम्भीरतापूर्वक आत्मपरीक्षण करना चाहिए, परन्तु यह दु ख की बात है कि इस क्षमता का प्रदर्शन वे इस समय नही कर रहे है। मैंने जो कुछ लिखा है, वह सत्य लिखा है व जिन्होने मुसलमान लडकियो को इस

तरह शुद्ध किया है खुद उनके बयान के आधार पर मैंने लिखा है। मुझे उन्होंने वे नाम भी बता दिये। मैं दंग रह गया। फिर उन्होने कहा--"यदि आज मैं इसका प्रमाण दू, इन नामो को खोल दू तो मुसलमान आर्यसमाज को खा जायगे। इस वातावरण में इससे द्वेष व शत्रुता ही बढ़ेगी। मुझे यह मजूर नहीं है। मै तो केवल आर्यसमाज की शुद्धि चाहता हू। अब इसका यही उपाय है कि अपने मित्र पर वे लोग जो भी आक्षेप, आपत्ति या हमला करते है उसे मैं शांति के साथ सह लू। अनजान लोग थोडी देर के लिए मुझे झूठा भी मान लें तो उससे उतनी हानि नही, क्योकि मेरा सत्य इन हमलों से कही बढकर मजबूत है।"

गांधीजी ने सत्य व शुद्धि की खातिर विष की ऐसी कई घूटे पी है। जैसा उनमें सत्य की तलवार उठाने का निर्भय बल व साहस था, वैसा उनमें दूसरो के अनुचित आक्रमणो, आपत्तियो, शकाओ को सहने का भी अपरिमित अहिंसाबल था।

: १५ :

सूक्ष्म दृष्टि

गांधीजी की निगाह कितनी पैनी थी, कितनी तफसील की बाते वे सोचते थे व याद रखते थे, खासकर बीमारो व बीमारियो के बारे मे, इसकी कुछ घटनाए सुनिए। दृष्टि उनकी सूक्ष्म ही नही, भेदक भी थी। उन्होने एक बार मुझसे कहा था कि मनुष्य के सामने आते ही उसका बहुत-कुछ अन्दाजा मुझे हो जाता है। स्व० जमनालालजी कहा करते थे कि मनुष्य के पत्र-व्यवहार, चाल-ढाल, सूरत-शकल से मुझे उसके स्वभाव व उद्देश्य का अन्दाजा हो जाया करता है। महापुरुषो में यह गुण आवश्यक रूप से होता है।

१९२१ की बात है। आश्रम मे पहुचने के थोडे दिन बाद ही मैं अपने माता-पिता को भी साबरमती ले गया। मेरे पिताजी का स्वभाव

बड़ा खरा था। अपने मन की सच्ची बात वे बडे कडे ढग से बडे-से-बडे आदमी के मुह पर कहते हुए नही हिचकते थे। वे मुहफट प्रसिद्ध थे, इतने कि मुझे लोगो के नाराज हो जाने का डर लगा रहता था। जब वे आश्रम में आये तो पूज्य बापू का दर्शन उन्हें करना व मुझे कराना ही था, पर मैं मन मे डर रहा था कि कही बापू को कुछ कह-सुन न बैठे, क्योंकि वे बापू के, खासकर छूआछूत-सम्बन्धी विचारो व आन्दोलन से, सहमत नही थे। सुबह ८-९ बजे का वक्त बापू ने मिलने के लिए दिया था। बापू आश्रम वाले अपने घर के बरामदे मे पूर्व की ओर मुह कर के अक्सर बैठा करते थे। सामने साबरमती बहती थी। नदी व बापू की कुटिया के बीच में नदी के किनारे पर ही थोडा-सा मैदान था जिसमें बापू प्राय सोया करते थे और उसमें से होकर लोग बापू से मिलने आते-जाते थे। सामने लकडी की जाली व कई बडी-बडी खिडकिया लगी हुई थी जिनमे से बापू अक्सर आने वाले को देख सकते थे व कई बार देख भी लिया करते थे। पिताजी, मार्तण्ड और मैं—हम तीनो मिलने गये थे। खिडकी मे बापू ने हमे आते हुए देखा। हम कमरे मे पहुचे व प्रणाम किया। पिताजी ने उन्हे 'जय रामजी की' शब्द से वन्दन किया। वे प्राचीन जाति-प्रथा या वर्ण-व्यवस्था की परिपाटियो के बडे अभिमानी थे, ब्राह्मण या साधु-सन्यासी के सिवा किसीको प्रणाम या नमस्कार नही करते थे, 'जय राम', 'राम राम', 'जय गोपाल', 'जय रघुनाथजी' आदि शब्दो से अभिवादन किया करते थे। बापू ने पहला प्रश्न पिताजी से किया—"आपके पाव मे कुछ तकलीफ है ?" मैं बीच ही मे बोल उठा—"नही तो।" इतने में पिताजी बोले—"हा, कुछ थी। अब तो नही रही है, पर कुछ चलने में दिक्कत होती है।" बापू ने कहा, "हा, मैने आपको देखा तो मुझे यही शक हुआ।" हम सुनकर दग रह गये। पिताजी के कोई २–३ साल पहले घुटने मे मामूली दर्द हुआ था। इलाज से वह ठीक हो गया था। हमने कभी पिताजी की चाल में कोई फर्क नही देखा, मगर बापू ने भाप लिया। बापू की इस पैनी दृष्टि पर जहा बडा कुतूहल हुआ, वहा अपनी मूर्खता पर शर्मिन्दा भी।

इसके १३–१४ वर्ष बाद दिल्ली में जब पिताजी बापूजी से मिलने गये तो बापू ने पहला सवाल किया—"आपके पांव की तकलीफ अब कैसी है ?" कितनी पुरानी बात उन्होंने याद रखी ? मिलते ही वे स्वास्थ्य व बीमारी के बारे में जरूर प्रश्न करते थे। पत्रो में भी इस बारे में जरूर पूछताछ करते थे। मेरा स्वास्थ्य प्राय: खराब ही रहा करता है। अत शायद ही कोई पत्र ऐसा मिला हो जिसमें उन्होंने इस विषय में एकाध सतर न लिखी हो।

: १६ :

सेवा-भाव

साबरमती में तो उनका यह नियम ही था कि शाम को प्रार्थना के पश्चात् आश्रम के प्राय सब बीमारो का हाल उनके घरवालो या पडौसियो से, जो प्रार्थना मे आते थे, पूछ लिया करते थे, सो भी तफसील से। क्या खाया-पिया, क्या व किसकी दवा चल रही है, आदि। फिर प्राय हर बीमार के लिए अपनी तरफ से कोई न-कोई उपयोगी सुझाव देते। किसीका समाचार नही मिलता या कोई ज्यादा बीमार होता तो खुद उसके घर जाकर देखते। एक बार इसी तरह एकाएक मेरी माताजी को देखने आगये। उनकी जाघ में एक विषैला फोडा हो गया था। उस दिन शाम को उनकी देख-भाल में लगे रहने के कारण हम कोई प्रार्थना में न जा सके तो वे लकडी हाथ में लिये घर पर आ पहुचे। हम कोई इसके लिए तैयार नही थे। कमरे में सब चीजें अस्त-व्यस्त पडी थी। मै बडा शर्मिन्दा हुआ। बापू का आना माताजी के लिए तो आधी से ज्यादा बीमारी के दूर हो जाने के बराबर था। महात्माजी को रोगियो की सेवा-शुश्रूषा खुद करने में बडा सन्तोष मिलता था। कुष्ट-रोगी परचुरे शास्त्री के घावो को वे खुद बडे चाव से धोते थे। इसे नारायण की सेवा ही समझते थे। एक बार वर्धा में

कांग्रेस कार्य-समिति की मीटिंग बीच मे ही छोड कर परचुरे शास्त्री की परिचर्या के लिए सेवाग्राम जाने लगे तो जवाहरलालजी, जो उस समय शायद कांग्रेस के सभापति थे, गाधीजी पर बिगडे। झल्ला कर कहा—"क्या स्वराज्य व कार्य-समिति से बढ़कर जरूरी काम सेवाग्राम मे है ?" बापू ने दृढ़ता के स्वर में कहा—"है। मेरे लिए वह स्वराज्य से बढ़कर है।" वह उनके लिए अपने भगवान् की परिचर्या थी।

यदि हम जीवन के सब कार्यों को भगवान् की पूजा मानकर करने लगें, प्रत्येक व्यक्ति को नारायण का रूप समझ कर उसके साथ व्यवहार करने लगें तो वह कार्य कितना आनन्द व सन्तोषप्रद तथा वह व्यवहार कितना सहज, निर्मल व पवित्र हो जाय ? प्रत्येक कार्य व प्रत्येक व्यक्ति मे हमारी दिलचस्पी कितनी बढ जाय ? 'अब तो जी उकता गया' ऐसा कहने या मानने का भी अवसर ही नही आ सकता। इस सिलसिले में नाथद्वारा का एक बढिया प्रसग मुझे याद आ रहा है।

एक बार मैं उदयपुर से चित्तौड जा रहा था तो मावली स्टेशन पर नाथद्वारा की एक विधवा बुढिया मेरे डिब्बे मे आई। जेल मे मुझे श्रीमदभागवत पढकर भागवत् धर्म समझने का अवसर मिला था। पुष्टि मार्ग मे भागवत-ग्रन्थ को बहुत प्रधानता दी गई है। नाथद्वारा पुष्टि मार्गियो—वल्लभ सप्रदाय-वालो—का बहुत बडा तीर्थ है। तो सहज ही मुझे वहा के जीवन के बारे में कुछ पूछताछ करने की उत्सुकता हुई। वैसे तीर्थस्थानो की आधुनिक दशा की आलोचना बहुत सुनी थी। खुद काशी मे पाच साल विद्याध्ययन के लिए रहा था तो वहा के अनुभव भी थे। दूसरे तीर्थों की भी यात्रा के अवसर आये थे। अत भगवान् में श्रद्धा-भक्ति होते हुए भी, तीर्थों की मूल कल्पना का, उनकी पतित-पावनता का कायल होते हुए भी उनकी वर्तमान अवस्था व व्यवस्था के प्रति आलोचक दृष्टि ही मेरी थी व अब भी है। अत नाथद्वारा के लिए मन मे कोई उच्च भाव नही था। फिर भी कुतूहल-वश कुछ जिज्ञासा हुई।

बुढ़िया के एक विधवा बेटी थी। वह भी उसके साथ रहती थी। मैंने दोनो की दिनचर्या भी पूछी। कार्यक्रम जानना चाहा। बुढ़िया ने सुबह ५ बजे से रात के १० बजे तक का ऐसा कार्य-क्रम बताया कि कुछ मिनटो की भी गुञ्जाइश दूसरे काम के लिए नही थी। सारा काम ठाकुरजी की पूजा, अर्चा, शृगार, भोजन शयन और विविध प्रकार की सेवा से सम्बन्ध रखता था। मैंने उससे पूछा कि तुम मा-बेटी की बातचीत व चर्चा के विषय क्या होते हैं? उसने कहा, "भैया, हम सुबह से रात तक ठाकुरजी की सेवा मे ही इतनी लगी रहती हैं कि चर्चा तो दूर, बातचीत करने की भी फुरसत नही मिलती। हमारे मन मे चौबीसो घटे सिवा ठाकुरजी के दूसरा खयाल सहसा नही आने पाता।" मै बुढिया की इस बात पर अविश्वास ही करता, यदि मैंने स्वय सत्याग्रहाश्रम (साबरमती) मे ऐसा ही सटा हुआ घना कार्यक्रम न देखा होता। वहा एक-एक मिनिट का और समय की पाबन्दी का इतना ख्याल रक्खा जाता था कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर दौड कर ही मनुष्य ठीक समय पहुच सकता था। फिर बुढिया ने सुबह से शाम तक के कामो की इतनी तफसील भी बताई कि उसमें अविश्वास की जगह तो नही थी। सारा वर्णन सुनकर मेरे मन ने कहा—"धन्य है यह जीवन-क्रम, जिसमे चौबीसो घटे भगवान् का ही ध्यान रहता है! यह तो जाग्रत समाधि हो गई। भगवद्भाव और क्या हो सकता है? जिस लगन व चिन्ता से ये बुढिया मा-बेटी ठाकुरजी की सेवा करती थी, उसी प्रेम व भक्ति से साबरमती आश्रम के सेवक लोक-सेवा-कार्यों में लगे रहते थे। ये बुढ़िया-बेटी मूर्ति-पूजा के माध्यम से, तो वे सेवक सेवा-कार्यों के माध्यम से उसी भगवद्भाव को पाते थे। ये दो प्रकार के भगवद्भक्त हुए एक भगवान् की व्यक्तिगत सेवा-पूजा करता है, दूसरा उसके कार्यों मे अपना जीवन खपाता है। इस दूसरे मार्ग मे दुखियो की सेवा का एक लाभ रास्ते चलते हो जाता है—यह इसकी विशेषता है। इसीलिए गाधीजी इसपर याने अनासक्ति-पूर्वक सेवा-कार्यों में जीवन लगाने पर ज्यादा जोर दिया करते थे। अपनी काम-

नाओं व कर्म-फलो के प्रति अनासक्त हुए बिना भगवान् में सच्ची भक्ति हो ही नही सकती। एक की अनासक्ति से दूसरे में आसक्ति अपने-आप हो जाती है। मन को आसक्ति का कोई-न-कोई विषय चाहिए। ऐसा सर्व-मगलदायक शान्ति-सुखकारक विषय एक-मात्र भगवान् ही हो सकता है।

: १७ :

वक्त की पाबंदी

बापू का समय-पालन व नियम-पालन तो जग-जाहिर है। उनका नाम ही पड गया था '१७ घन्टो का गुलाम'। एक रोज शाम को घूमते समय साथवालो से बात-चीत करते हुए कुछ देर हो गई तो उन्होने दौडकर समय पर प्रार्थना मे पहुचने का प्रयत्न किया। यह तो मैंने खुद देखा, पर और लोग कहते थे कि ऐसा कई बार हो जाता है।

आश्रम मे कई बार सयुक्त भोजन के प्रयोग हुए। बापू मानते थे कि कौटुम्बिक जीवन से आगे सामाजिक या सामूहिक जीवन की ओर प्रगति करना चाहिए। यह उनके 'रामराज्य' की एक सीढ़ी थी। इसके लिए जरूरी था कि सब लोग एक ही जगह आश्रम के भोजनालय में खाना खावे। इससे समय व धन की बचत के अलावा सामूहिक जीवन का अभ्यास भी होगा। लेकिन यह सब होना चाहिए समय-पालन, सुव्यवस्था व शुचिता के साथ। इस सारे कार्य-क्रम को गति देने व लोगो को प्रोत्साहित करने के लिए खुद बापू ने भी सयुक्त रसोडे में भोजन करना शुरू किया। भोजन के समय दो घटी लगाने का नियम तय हुआ। दूसरी घटी तक जो भोजनालय में न पहुच सके उसे दूसरी पक्ति के लिए बरामदे में इतजार करना पडता। दूसरी घटी के बाद रसोईघर का द्वार बन्द कर दिया जाता जिससे बाद में कोई आने न पावे। एक रोज मैंने देखा कि बापू पिछड गये। इत्तफाक से मैं भी पिछड गया था।

देखा कि बापू बरामदे में खड़े हैं। बरामदे में बैठने के लिए कोई बेंच या कुर्सी भी नहीं थी। मैंने बापू से, दरअसल तो अपने पिछड़ने की झेंप मिटाने के लिए, विनोद करते हुए कहा—"आज तो आप भी गुनहगारो के कटघरे में खड़े हैं!" बापू ने खिलखिलाकर हसते हुए कहा—"कानून के सामने सब बराबर होते है न ।" मैंने कहा—"कुर्सी लाऊ ?" बोले—"नही, सजा तो पूरी भुगतनी चाहिए। सच्चा आनन्द इसीमे है ।"

एक बार उन्हें गुजरात विद्यापीठ किसी कमेटी की मीटिंग में या ऐसे ही जरूरी काम से जाना था। समय पर कोई सवारी नही आई तो पैदल चल पड़े । जब देखा कि इससे तो पिछड़ जायगे तो रास्ते में कोई साइकिल पर जाते हुए मिला, उससे साइकिल ले ली और उसपर सवार होकर समय पर गुजरात विद्यापीठ जा पहुचे।

मुलाकात के समय कभी एक सेकिण्ड की भी देर हो जाती तो फौरन टोकते और समय पूरा होते ही कहते—"अब भाग जाओ। दूसरो का समय हो गया ।"

: १८ :

आरोग्य बनाम सुन्दरता

रसोईघर में नौकर कोई नही होता था। पारी-पारी से सबको नियत काम करना पडता था। खुद बापू के जिम्मे भी समय-समय पर काम दिया जाता था और वे बडी तत्परता, ध्यान व रस के साथ उसे करते थे। एक बार वे टमाटर काट रहे थे। मेरी भी ड्यूटी उस समय थी। मैंने देखा कि बापू टमाटर बडे टेढे-मेढे काट रहे थे जिससे उनके टुकडो की शक्लें बडी भद्दी हो जाती थी। मैंने सोचा, बापू तो सुघडता के बडे प्रेमी हैं। इन बदशक्लो की ओर इनका ध्यान क्यो नही जाता ? मैंने विनोदी ढग से कहा—"बापू, टमाटर काटना तो अभी आपको नही

आया। मालूम होता है, आज आपका मन और कही है।" बापू ने मुस्कराते हुए लम्बी 'हू' की और बोले—"अभी तुम लोगो को मुझसे टमाटर काटना सीखना है। तुम लोग सुन्दर शक्ले काटने में यह भूल जाते हो कि टमाटर की आखो मे (दबी जगहो में) अक्सर कीडे होते हैं। बिना ज्यादा ध्यान से देखे बीजो मे उनका पता नही लगता। अत टमाटर इन आखो को बचाकर काटने चाहिए। मैं इसी तरह बडे ध्यान से काट रहा हू। सुन्दरता और आरोग्य मे किसका चुनाव ठीक है ?" मैने कहा—"बापू, अब तो आपके सामने कान पकडना पडेगा।" और मैने अपने दोनो कान पकड लिये। बापू खिलखिला कर हस पडे।

: १६ :

सिपाही का धर्म

बापू के सामने आश्रम की कई छोटी-बडी समस्याए आती। उन्हे छोटी से-छोटी बातो की तरफ बारीकी से ध्यान दिये बिना चैन नही पडती थी। उनके हल करने के तरीके भी अद्भुत हुआ करते थे। उनके सामने सदैव दो बातें रहती—कोई काम सत्य, अहिसा के सिद्धान्त के विपरीत न होने पावे। उसका हल ऐसा निकाला जाय जिससे राम-राज्य की कल्पना या सर्वोदय का उद्देश्य पूरा हो सके। बाहरी दबाव की अपेक्षा भीतरी गुणो या शक्तियो के विकास पर यह अधिक अव-लम्बित रहता है। अत वे व्यक्तियो से व्यवहार करते समय इस बात का बडा ध्यान रखते थे कि वह उनके बोझ से दब तो नही रहा है या दबकर तो किसी बात में 'हा' नही कर रहा है। इसकी कई मिसाले है। अपनी जानकारी की कुछ मुख्य-मुख्य मिसालें यहा देता हू।

सन् १९२५ मे महात्मा जी बेलगांव-कांग्रेस के सभापति हुए। कांग्रेस का काम कैसे चलाना चाहिए, कांग्रेस के द्वारा रचनात्मक कामो को कैसे आगे बढ़ाना चाहिए, इसका नमूना पेश करने के लिए खासकर वे सभा-

पति बने। उनके सभापति बनने से आश्रमवासियो के मन मे भी बेल्गांव जाने का उत्साह हुआ। और साल तो केवल वही लोग काग्रेस में जाया करते थे जिनकी जरूरत वहा काम के लिहाज से हुआ करती थी। फालतू किसीका कहीं जाना, फिर वह बडी-से-बडी लुभावनी जगह भी क्यो न हो, बापू को पसन्द नही था। किन्तु इस बार तो खुद बापू ही सभापति होनेवाले थे और रचनात्मक कामो को प्रधानता मिलने वाली थी। अत बहुतेरे उम्मीदवारो के नाम बापू के पास आ गये। बापू सोच में पड गये। किनको रोका जाय, किनको मजूरी दी जाय ? फिर खर्चे का भी सवाल था।

मैने सन् १९१४ मे पहली बार लखनऊ मे काग्रेस का अधिवेशन देखा था। फिर १९२१ मे अहमदाबाद वाला। लखनऊ के समय तो मै कानपुर रहता था। अत पास ही लखनऊ चला जाना आसान था। अहमदाबाद के समय मै वही रहता था। अत शरीक हो जाना बडा सुलभ था। उसके बाद कभी काग्रेस में जाने की इच्छा नही हुई। एक तो इसका कारण यह था कि जो काग्रेस के प्राण थे, जहां सारी राष्ट्रीय व नैतिक शक्तियो का केन्द्र था, उन्ही चरणो मे जब पहुच गया, उनके सिद्धान्तो, आदर्शों, विचारो को समझने व पचाने का सुअवसर जब मिल गया तो काग्रेस के अधिवेशनो मे सिवा बहस व व्याख्यानो के और क्या विशेष सीखने जैसा था ? बापू के पास कौनसे गुण, शक्ति, योग्यता की कमी है जो दूसरे नेताओ से मिल सके ? इस तरह के मेरे विचार रहे। दूसरे बापू के एक उपदेश का मेरे मन पर जीवन-भर के लिए असर हो गया था। सन् १९२१ मे जब मैं बापू के पास पहुचा ही था कि युवराज के स्वागत-बहिष्कार का आन्दोलन बडे जोरो से चल रहा था— उसके लिए जगह-जगह स्वयसेवको की भर्ती हो रही थी। मेरी भी इच्छा हुई कि मैं भी अपना नाम लिखाऊ। पर 'हिन्दी नवजीनव' का काम कर रहा था। बापू की इजाजत के बिना कैसे नाम लिखाऊ ? बडे उत्साह से बापू से पूछने गया। उन्होने कहा—"हाल ही में तो तुमने 'नवजीवन' का काम हाथ में लिया है। तुम्हारे भर्ती होने से इस काम

का क्या होगा ? अपना काम छोडकर दूसरे काम में पडना तो सिपाही का धर्म नही है। तुम्हें जेल जाना है तो 'नवजीवन' का काम करते हुए ही जेल जाना है। दूसरा खयाल छोड दो।"

इस उपदेश का असर भी मुझपर काम कर रहा था। इसके प्रभाव में मैंने बडे-बडे अवसरो को खो दिया। परन्तु आजतक जरा भी अफसोस नही हुआ। उलटे मन मे एक प्रकार का गौरव व अभिमान-सा लगता है कि मैंने कुछ खोया नही—सिपाही-धर्म का पालन करके श्रेय ही प्राप्त किया। किन्तु बेलगाव-काग्रेस के समय जाने के उत्साह को मै न रोक सका। मैंने मन में निश्चय ही कर लिया था कि अबकी बार जाऊगा। जाने से कुछ दिन पहले एक बार सुबह की प्रार्थना के समय बापू ने बताया कि किस तरह के लोगो को बेलगाव-काग्रेस में जाना चाहिए। उनमें मेरा समावेश कही नही होता था। फिर उन्होने प्रश्न किया कि कौन-कौन लोग बेलगाव-काग्रेस मे जाना चाहते हैं। कई लोगो ने अपने नाम पेश किये। मै दुविधा में पड गया। सिपाही-धर्म जोर मार रहा था कि बापू ने मुझसे पूछा—"हरिभाऊ, तुम्हारा क्या विचार है ?" मैं देख रहा था कि कई नाम आ जाने से बापू कुछ चिन्ता में पड गये है और कोई रास्ता ढूढ़ रहे है। मैंने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि नही जाना चाहिए और बापू से कहा—"बापूजी, मेरा विचार तो जाने का हुआ था। अहमदाबाद-कांग्रेस के बाद मै किसी अधिवेशन मे नही गया। लेकिन आपने जो चोखटा बनाया है, उसमें मेरे जाने की कोई गुजाइश नही है, अत. मैंने न जाने का निश्चय कर लिया है।"

सुनते ही बापू की खुशी की सीमा न रही। उन्हे हल मिल गया और दूसरे फालतू जानेवालो को रोकने का सहारा भी। बस, फौरन कहा—"तुम्हारा निश्चय बहुत ठीक है।" और दूसरो को सम्बोधन करके कहा—"हरिभाऊ की तरह सबको सोचकर अपना-अपना निर्णय करना चाहिए।" एक खासा व्याख्यान दिया और उसके जादू से कइयो को बेलगाव जाने से बचा लिया। न किसी पर रुकने का दबाव डाला,

न किसीको स्पष्ट इन्कार किया। सबकी आत्मा को जाग्रत करके निर्णय कराया। वे बाज-बाज को इन्कार भी कर सकते थे और कई बार मना कर भी देते थे, किन्तु व्यक्तिगत रूप से। यहा तो कई नामो के व्यक्तियों का सवाल उठ खडा हुआ था। उसके लिए उन्हें रोक की एक लकीर खीचनी थी और एक मिसाल भी चाहिए थी।

: २० :

बापू की कुशलता

आश्रम के तपस्वी व्यवस्थापक श्री मगनलाल गाधी का बिहार म एकाएक स्वर्गवास हो गया। गाधीजी को बडा धक्का लगा। उन्होने श्रीमती सन्तोषबहन (मगनभाई की धर्मपत्नी) से कहा—"विधवा तुम नही, मै हुआ हू। शोक करने का मुझे अधिकार है, तुम्हे नहीं, जबतक कि मै बैठा हू।" और उस क्षण से महीनो मगनभाई के घर पर ही रहे।

अब एक बडी समस्या खडी हुई। मगनभाई की इच्छा थी कि बिहार मे उनका अधूरा काम राधाबहन (उनकी सुपुत्री) करे। सन्तोषबहन उसको अपने पास ही रखना चाहती थी। पूज्य बा का इसमे समर्थन था। राधाबहन, जहातक मुझे याद पडता है, मगनभाई की अन्तिम इच्छा को पूर्ण करना चाहती थी। बापूजी खुद भी दिवगत आत्मा को सन्तोष देने के पक्ष मे थे, परन्तु सन्तोषबहन तथा बा के विरोध के कारण बडी दुविधा मे पड गये। यदि बिहार भेजते हैं तो सन्तोषबहन की नाराजगी और उनके यह समझ लेने का अन्देशा था कि बापूजी मेरे दु ख को नही समझ पाये। नही भेजते हैं तो मगनभाई की आत्मा और उनके अधूरे काम का खयाल उन्हे सता रहा था। अब इसका निर्णय उनके सिवा कौन करता ? राधाबहन पर वह छोडा नही जा सकता था, क्योंकि जिसके निर्णय में बापू को इतना पसोपेश होता था उसका निश्चय करना उनके लिए और भी मुश्किल था। बापूजी बडे

सोच-विचार में पड गये। सिद्धान्त का प्रश्न होता तो बापूजी उसको चुटकियों में हल कर देते, परन्तु यहा भावनाओ का सघर्ष था। इसमे धर्माधर्म का प्रश्न नही था। आखिर उन्हे एक तरकीब सूझी। पैसा उछालकर इसका फैसला कर लिया जाय। यह एक प्रकार से दैवी निर्णय होगा। लोगो ने आलोचना की, "यह तो पलायन-वृत्ति हुई। अन्धविश्वास हुआ। बापू के लिए यह शोभा नही देता।" बापू ने प्रार्थना मे प्रतिपादन किया कि जिसमे सिद्धान्त या धर्माधर्म का प्रश्न खडा न होता हो, भावनाओ का सघर्ष हो, वहा इस तरह चिट्ठी डालकर या पैसा उछालकर फैसला कर लेना बुरा नही। इसमे किसीके भला-बुरा मानने की सम्भावना नही रहती। सबके चित्त के समाधान की ही गुजाइश रहती है।

× × ×

बापू के एक साथी की लडकी से दोष हो गया। बापू को बडी चोट लगी। अब लडकी के सगाई-विवाह का सवाल सामने आया। बापू ठहरे धर्म के उपासक। फिर दुविधा खडी हुई। यदि वर-पक्षवालो को कुछ नही कहते है तो उन्हे धोखा देने-जैसा हुआ। यदि कहते है तो यह आशका थी कि कही वे सम्बन्ध नामजूर न कर दें। लडकी से उन्होने प्रायश्चित्त करा लिया था। जहा तक मुझे याद है, खुद भी उपवास करके प्रायश्चित्त किया था। आगे ऐसी गलती न करने की प्रतिज्ञा लडकी ने की थी। इस तरह शुद्ध हो जाने से बापू का मन हल्का तो हो गया था, परन्तु वे बडे असमजस मे पड गये थे। आखिर उन्होने सत्य बात कह देने का सकल्प किया। न होगी शादी तो लडकी कुवारी ही रहेगी, पर असल बात छिपाना ठीक नही। साधारण लोग उलटा ऐसे अवसरो पर लडकियो के ऐब छिपाकर गुण-ही-गुण बताते है। सोचते है कि किसी तरह लडकी की सगाई हो जाय, पीछे ससुराल-वाले भले ही रोते रहे। परन्तु बापू तो धर्म-पालक, नीति-निर्धारक व सत्य पथ-प्रदर्शक थे। 'या निशा सर्व भूताना तस्या जागर्ति सयमी' के नमूना थे। उन्होने भावी वर को सब बातें बता दी और कहा, "यह

सम्बन्ध वैसे सब तरह ठीक है, परन्तु इसका निर्णय तुम्हें अपनी अन्तरात्मा से पूछकर करना है।" लडके ने बापू के विचारों को पसन्द किया और शादी हो गई। बापू में इस तरह की ऐसी कुशलता थी, जो उनकी सत्य और अहिसा की अहर्निश साधना से प्राप्त हुई थी, और होती रहती थी।

: २१ :

पशु-पक्षियों तक के प्रति अहिंसक

आश्रम मे खेती होती थी, बगीचा भी था, जिसमे फलो के वृक्ष-पौधे लगाये गये थे। बापू सुघडता व कला-सौन्दर्य के रसिक थे, परन्तु सबका आधार 'उपयोगिता' रहता था। केवल शोभा-शृगार उन्हे पसन्द नहीं था। अत आश्रम में फूल-पौधो और बेलो की अपेक्षा फल-पौधो की ही अधिकता थी। चूकि खादी-सम्बन्धी सब प्रतिक्रियाए शुरू से अखीर तक आश्रम में करना और सिखाना चाहते थे, अत कपास की खेती भी शुरू हुई। आश्रम में बन्दरो की चढाई अक्सर होती रहती थी। वे फलो व खासकर कपास के बौडो को खा जाया करते थे। उन्हे कैसे भगाया व रोका जाय? इधर नुकसान को रोकना, उधर बन्दरो के प्रति हिसा न होने देना। पत्थर मारने से उन्हें चोट लगती थी। खाली हो-हल्ला मचाने मे वे मानते नही थे। अत एक अहिसक उपाय निकाला। ऐसे हलके तीर, जिनकी नोक पर रुई, कपडा या फूल बधे हो, चलाये जाय, जिनसे बन्दरो को धक्का तो लगे, परन्तु चोट न पहुचे, जख्म न हो जाय। पशु-पक्षियो तक के प्रति बापू अहिसक रहना चाहते थे।

आश्रम में साप भी निकला करते थे। और जगह लोग उन्हे देखते ही मार डालते हैं। अफ्रीका में तो सापो और वहाके निवासियो का परस्पर इतना बैर है कि साप आदमियो को देखते ही काटने को

झपटता है और आदमी भी साप को देखकर जिन्दा नही छोडता। दोनो पक्षो में प्रबल हिंसा पाई जाती है। साबरमती आश्रम में दोनो पक्षो मे अहिसा का भाव पाया गया। वहा साप को मारने की मनाही थी, किन्तु साप निकलते बहुत थे। साबरमती आश्रम जहा बसा है वहा पहले वीरान जमीन थी, जीव-जन्तुओ का असली घर था। उनकी जन्म-भूमि में आश्रमवासी घुस गये और अपना डेरा जमा लिया। तो वे—बिच्छू साप, छछूदर, घूस, चीटी, दीमक आदि—अपनी लडाई किसी-न-किसी रूप मे जारी रखते ही थे, परन्तु आश्रमवासी थे अहिसावादी। बिच्छुओ को पकडकर छोड देते थे। वह आसान भी था, परन्तु सापो का क्या किया जाय? यदि उन्हे मारते नही है तो उनके डस लेने और उससे मृत्यु हो जाने की सम्भावना थी। सो उन्हे भी पकडकर दूर जगल या नदी-नालो में छोड आने का उपाय निकाला गया। साप को पकडने के लिए कम-से-कम दो आदमी जरूरी होते थे। एक उसे लाठी से दबा देता था। जब वह फन उठाता तो दूसरा उसमे फदा डालकर उसे फाद देता था। फदा बडा ही आसान था। एक लम्बी बास की लकडी के सिरे पर मामूली रस्सी का फदा डाल देते थे, रस्सी खीचते ही साप का फन उसमे दब जाता था। फिर उसे इस एहतियात से उठाते थे कि साप को बास पर लिपटने का अवसर नही मिलता था। वह सीधा जमीन की तरफ लटकता रहता था। यह तरीका सभी जगह आजमाने लायक है। इस अहिसा-भाव का नतीजा यह था कि साप भी आश्रमवासियो का लिहाज करते थे, उन पर झपटते नही थे। वहा साप के काटने के एक-दो ही उदाहरण देखने मे आये। उन्होने काटा भी अहिसाभाव से ही था, क्योकि कोई मरा नही।

: २२ :

आश्रमियों की अहिंसा

सुनते है कि चोर-लुटेरो के भी कुछ नीति-नियम होते हैं। वे शरणागत को नही लूटते-मारते। साधु-सन्तो के यहा चोरी नही करते। किन्तु कलियुग में, और खासकर अग्रेजी राज के बदौलत, यहा प्राय सभी प्रथाए बिगड गईं। आश्रम मे चोरी के हमले होने लगे। वहा चौकी पहरा तो रहता नही था। कई लोग ताले भी नही लगाते थे। 'रामराज्य' का प्रयोग करना था न! जो चुरा ले जाते थे, उनके खिलाफ, जहा तक मुझे याद पडता है, पुलिस या थाने में शिकायत नही की जाती थी। तो यह प्रबन्ध हुआ कि आश्रमवासी बारी-बारी से रात भर पहरा दे। इत्तफाक से एक चोर पकड में आ गया। रात में पकडा गया तो उसे एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। यो मारने-पीटने की तो मनाही थी, पर पकडने की धक्का-धूमी में उसे साधारण चोट या खरोच आ गई थी। मुझे यह याद नही आता कि बापू उन दिनो वहा थे या नही, पर जो भी वहा थे, मगनलालभाई तो थे ही, उन्होंने सुबह उसे छोड दिया और उसे जो कुछ खरोच वगैरह लगी थी, उसका दु ख कई आश्रमवासियो को हुआ। फिर बापू ने अपनी सही से आप पास के गाववालो क नाम एक पत्र छपवाया था जिसमे चोर डाकुओ को उनके धन्धे की बुराई बताई थी और गांववालो को आश्रम के साथ चोरी रोकने के प्रयत्न में सहयोग की अपील की गई थी। यह विचार भी चला था कि आस-पास के गावो में जाकर प्रचार द्वारा वातावरण ठीक किया जाय। बापू को कोरे निषेधात्मक या

विध्वसात्मक कामो से सतोष नही होता था। वे कई बार जरूरी हो जाते थे। आपदधर्म के तौर पर वे किये जाते थे, परन्तु वास्तव में वे रचनावादी-शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। जबतक किसी लक्ष्य के लिए विध्वसात्मक काम के साथ रचनात्मक प्रवृतियो का योग नही होता था तबतक वे उसे अधूरा, कच्चा काम समझते थे। 'सर्वोदय' या 'रामराज्य' का दारोमदार निषेधक—विध्वसात्मक प्रवृतियो पर उतना नही हैं जितना शान्तिपूर्ण रचनात्मक प्रवृतियों पर है। वह मुख्यत भीतरी विकास की वस्तु है, बाहरी तोडफोड या जोड-तोड की नही।

× × ×

एक बार जगली गायो ने आश्रम पर हमला कर दिया। वे या तो ठेठ जगली थी या घर से भागकर जगल में चली गई थी। उनकी शक्ले देखकर ही डर लगता था। उनके साथ घरेलू गायों की तुलना करने से मालूम हो जाता है कि मनुष्य ने पशुओ को पालकर अहिसा की दिशा में कितनी प्रगति की है। सवाल यह आया कि इनके हमलो को कैसे रोके? पास जाना तो दूर रहा, कुछ दूर खडे रहने की भी सहसा कोई हिम्मत नही करता था। सोचा गया कि इन्हे पालतू बनाया जाय। आश्रम के पश्चिम की ओर तारो का एक अहाता बनाया गया और तरकीब से उन्हे उसके अन्दर पहुचा कर फाटक बन्द कर दिया गया। उनके लिए घास, चारे, पानी का इन्तजाम कर दिया गया। मुझे जहा तक याद पडता है, उसमें से फिर एक-दो गाये आश्रम की गोशाला में आ भी गई थी। जहा साप, बिच्छू, चोर को मारने की मुमानियत थी, वहा गोमाता पर तो हाथ उठाने का सवाल ही नही था।

खेती मे जो जीव-जन्तु मर जाते हैं, उनको बचाने की दृष्टि से भी बापू सोचा करते थे। परन्तु अन्न की उत्पत्ति में उन्होंने उसे अनिवार्य समझकर इतनी हिसा को क्षन्तव्य मान लिया था, क्योंकि खेती के द्वारा जगत् का पालन-पोषण होता है।

× × ×

आश्रम के अन्दर एक कुएं के पास पानी का एक छोटा-सा हौज था। एक सांप मेंढक खाने के लालच से वहां पहुंचा। मेंढक तो उसके मुह की पकड में आ गया, पर साप भी हौज में गिर पडा। मेंढक टर्र-टर्र करके बहुत छटपटाता था कि उसकी पकड से छूटे, पर काबू नही चलता था। इधर सांप भी पानी में परेशान था। मेंढक को छोड भी दे तो वह पानी के बाहर नही आ सकता था। एक तरफ मेंढक के खाने का लोभ, दूसरी तरफ प्राण बचाने का लोभ। दो लोभो के जाल में वह बुरी तरह फस गया था। इधर मेंढक का करुण टर्र-टर्र नही सुना जाता था तो उधर साप पर भी दया आती थी। कुछ आश्रम-वासी सोचने लगे कि क्या किया जाय, जिसस दोनो की जान बच जाय। सांप के निकाल लेने पर भी मेंढक का उसके जबडो से छुडवाना मुश्किल था। यदि मेंढक को मरने देकर भी साप को बचाते है तो हमलावर की रक्षा करके बेचारे निर्दोष मेंढक को मरने देने की स्थिति स्वीकार करते है। जो दया का पात्र नही, उसे तो बचाना और जो दीन, असहाय, हमले का शिकार हो गया था, उसे मरने देना, यह कहा का न्याय? ऐसे धर्म-सकट मे वे पड गये थे। बाद में क्या निश्चय किया, वह मुझे याद नही है, परन्तु मेरे इस घटना के उल्लेख के प्रयोजन की सिद्धि के लिए इतना कहना काफी है कि आश्रम के लोग अपने जीवन में कहा तक अहिसा की साधना करना चाहते थे।

: २३ :

सबके प्रति सद्भावना

एक बार बापू के सामने एक अजीब समस्या पेश आई। बापू के एक परम मित्र का लडका आश्रम में रहता था। वे बडे धनाढ्य थे। उन्होने आश्रम के पास ही अपना एक बगला बनवा लिया था। उसी में वह रहता था। लडका बडा सीधा, भोला पर 'चक्रम्' था। उसका

दिमाग भी ऐसा वैसा ही था। धन को देखकर एक लडकी के माता-पिता उससे सगाई करना चाहते थे। लडकी को भी उन्होने राजी कर लिया था। कुछ लोग इसके विरोधी भी थे। लडका शरीर और दिमाग से इस योग्य नही जचता था कि आश्रम से सम्बन्धित व्यक्ति की लडकी उससे विवाही जाय। मामला बापू के पास पहुचा। इधर परम मित्र का लडका, जो बापू की सरक्षता में ही रहता था। उधर लडकी के माता-पिता भी उनकी छत्रच्छाया में। फिर लडके की योग्यता नहीं, पर धन का लोभ इस सम्बन्ध के मूल में था। एक-से-एक अनर्थ-परम्परा। बापू की दुविधा का पार नही। पर बापू का पथ सत्य-अहिंसा के आदर्श से हमेशा उज्ज्वलित रहता था। उन्होने माता-पिता को लडके की सारी परिस्थिति समझाई। उन्हे परावृत्त करने का प्रयत्न किया। लडके के अभिभावको को भी समझाया। उन्हे लडकी पाने का लोभ था, क्योकि लडके को लडकी मिलना मुश्किल था। अत वे घर आई लक्ष्मी को कैसे छोडे? इस धर्म-सकट मे से बापू ने बडी खूबी से रास्ता निकाला। उन्होने सोचा, असली बात लडकी के सुख-दुःख की है। हमारा काम दोनो पक्ष को सही मार्ग दिखाने का है। लडकी खुद भी अपने बुरे-भले का विचार कर सकती है। उसको निर्णय के लिए हमने काफी विचार-सामग्री दे दी है। पहले वह खुद अपने लिए सोचे व फैसला करे। वह चाहती ही हो कि इस लडके से शादी करदी जाय, उसके परिणाम को भुगतने की उसकी तैयारी हो तो हमे आशीर्वाद दे देना चाहिए। आखिर में लडकी की शादी उसके साथ हो गई। जिसके सामने कोई सिद्धात और आदर्श स्थिर होता है, उसे ऐसे पेचीदा अवसरो पर रास्ता मिलने मे ज्यादा कठिनाई नही होती। सबके प्रति शुभ की भावना रहने से यह काम और सुगम हो जाता है।

: २४ :

साफ नीति

गाधीजी सबकी भली-बुरी सब बाते बडी शाति से सुनते थे। व्यक्तियो की एक-दूसरे के खिलाफ जो शिकायते होती थी, उनमें वे अक्सर दोनो का सामना करके या तो निपटारा व समझौता करा देते थे या दोनो को उनकी त्रुटिया बडी मिठास से समझा देते थे। कोई उनसे जो कह जाता था, उसपर विश्वास रखने की उनकी प्रवृत्ति थी। जबतक किसीके खिलाफ कोई इल्जाम साबित न हो जाय तबतक उसके साथ अपराधी का-सा बर्ताव नही करते थे, न अपने व्यक्तिगत व्यवहार मे कोई फर्क आने देते थे। कटुता तो उन्हे छू भी नही गई थी। इस तरह की कुछ घटनाए मुझे याद आ रही है।

एक बार राजस्थान के एक नेता बापूजी के पास पहुचे। पहले वे श्रद्धेय स्व० जमनालालजी बजाज के साथ मिलकर काम करते थे, बाद मे नीति विषयक मतभेद हो जाने से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से काम करने लगे थे, फिर भी यह महसूस करते थे कि जमनालालजी का सहयोग मिले तो ठीक रहे। इसी उद्देश्य से वे साबरमती गये थे। बापूजी ने उसकी सब बातें ध्यान से सुन ली। तब उन्होने जमनालालजी को बुलाया। कहा, "यह तुम्हारे साथ सहयोग चाहते है। कहते है, अब मेरा आपकी नीति व सिद्धातो मे पूरा विश्वास हो गया है। मैने इनसे कहा है कि मुझे इस बात की खुशी है। आप अब अपना नया विश्वास एक लेख या वक्तव्य द्वारा लोगो पर प्रकट कर दें, जिससे आपका मार्ग साफ हो जाय और जमनालालजी का सहयोग

मिलने में भी कठिनाई न रहे। सो तुम्हारा इस सम्बन्ध मे क्या कहना है ?"

जमनालालजी की आदत नही थी कि खामखा किसीकी शिकायतें करते। फिर बापूजी का तो ज्यादा-से-ज्यादा बोझा अपने पर लेने की भावना रखते थे, सो ऐसी शिकायतें कर-करके उनका काम क्यो बढ़ाते ? वैसे भी जहा तक होता था, खुद ही ऐसे मामले निबटा दिया करते थे। उन्होने अबतक इन नेता से अपने मतभेद की शिकायत तो दूर, जिक्र तक बापू से नही किया था। अब जब फिर से सहयोग का प्रश्न सामने आया तो उन्होने तफसील से अपने मतभेद के कारण खुलकर उनके सामने रख दिये। महात्माजी को आश्चर्य हुआ व उन्होने कहा, "ये सब बातें तुमने मुझसे आज तक नही कही ! लेकिन अब जब इनके विचार व नीति बदले है तो पुरानी बातो को भूलकर इनसे सहयोग करना ठीक है।" जमनालालजी शायद हिचकिचाये तो, पर बापू का प्रस्ताव मान्य करने-जैसा ही था। उन्होने कहा, "इनका वैसा वक्तव्य निकल जाय तो फिर मुझे कोई आपत्ति नही।" उन्होने उक्त प्रसग को लेकर मुझसे कहा था कि मै तो अपने जीवन में ऐसी साधना करना चाहता हू कि किसीसे मेरा वैर-भाव न रहे और जो मुझसे किसी कारण दूर पड गये है, वे सब नजदीक आते जावें। बापू की अहिंसा से मैने यही सीखा है। पीछे कुछ विचार करने पर उन नेता ने वक्तव्य नही निकाला, इसलिए वह सहयोग न हो पाया।

: २५ :

शरणागत-वत्सल

बीकानेर में स्व० सर गगासिहजी बीकानेर-नरेश के समय में स्व० श्री खूबरामजी सराफ तथा दूसरे कुछ व्यक्तियो पर राजनैतिक मुकदमा चल रहा था। मेरे एक मित्र ने बीकानेर डिफेंस कमेटी बनाई थी।

राजस्थान का सेवक होने के नाते मेरी भी दिलचस्पी उसमें थी ही। महाराजा बीकानेर पर इधर-उधर के जोर पड चुके थे। मुकदमे ने काफी हलचल पैदा कर रक्खी थी। उस आग के आस-पास की रियासतो मे फैल जाने का अन्देशा था, अत खुद पोलिटिकल एजेन्ट महाराजा साहब से कह चुका था, पर महाराजा गगासिह अपने ढग के बडे तगडे आदमी थे। आगे जाकर तो उन्होने काग्रेस के सत्याग्रह-आदोलन को दबाने की पूरी योजना बनाकर वायसराय को भी भेजी थी। उनके दकियानूसी विचार जग-जाहिर थे। उन्होने पोलिटिकल एजेण्ट को भी दाद नही दी थी। हमारे मित्र ने सुझाया कि महात्माजी की सहायता लेनी चाहिए। चुनाचे मैं उन्हे अपने साथ लेकर महात्माजी से वर्धा में मिला। उनके दरवाजे जाकर कौन निराश लौटा है! फिर उनका ही अपना एक सिपाही गुहार लेकर गया हो। उन्होने तुरन्त बीकानेर महाराजा को पत्र लिख दिया और हम दोनो को सचेत कर दिया कि यह समाचार प्रेस में न आने पाये। मैंने तो किसी निजी मित्र तक से उसका जिक्र नही किया, क्योकि मैं उस समय की नाजुक परिस्थिति व महात्माजी के आदेश के महत्व को अच्छी तरह समझता था पर मेरे मित्र इतना सयम न रख सके। उन्होने अखबारवालो से तो कुछ नही कहा, पर एक निकटवर्ती मित्र से कह दिया। इसका सार्वजनिक उपयोग न करें, यह सूचना देना भी शायद वे भूल गये। उन्होने एक तीसरे मित्र से जिक्र किया और मेरे अजमेर पहुचने तक मैं क्या देखता हू कि अखबार मे वह खबर छपी पडी है। मेरे तो सिर पर मनो ठडा पानी पड गया। अब बापू को क्या मुह दिखावेंगे? इसका न जाने क्या असर होगा? इधर हमारे मित्र को जब मालूम हुआ कि यह खबर तो अखबारो में आ गई तो वे भी बिना मौत के मर गये-से हो गये। अब उन्हे अपनी असावधानता खाने लगी। उन्होने फौरन महात्माजी को लिखा कि कसूर हरिभाऊ का नही है, मेरा है। बावजूद आपकी चेतावनी के मुझसे बडी भूल हो गई। इधर मैंने बापू से माफी मागी। बापू मुझपर बहुत बिगडे। मैं तो सामने था नही।

शायद महादेवभाई थे। उन्होंने मेरा पक्ष लेते हुए दबी जबान से कहा, "बापू, इसमें हरिभाऊ निर्दोष है।" बापू ने कहा, "मगर मैं दूसरो को क्या जानू ! मैं तो हरिभाऊ को ही जिम्मेदार मानता हू।"

इस सवाद की खबर जब मुझे लगी तो मैं सीधा वर्धा पहुचा। बापू तो शरणागत-वत्सल ठहरे। जब कोई बिना लाग-लपेट के अपनी गलती उनके सामने कबूल कर लेता था तो वे उसकी हर तरह रक्षा करते थे और एक पिता के ममत्व से उसको छाती से लगाकर सही रास्ता बताते थे। मैंने अपनी जिम्मेवरी पहले ही कबूल कर ली थी। अब तो मैं उसका प्रायश्चित्त उनसे पूछने आया था। उन्होंने बडे दुखी स्वर से मुझसे कहा, "हरिभाऊ, तुम्हारे मित्र यह नही जानते कि उनका हित किसमें है। अब इस खबर के जाहिर हो जाने से बीकानेर-महाराजा उन्हे छोडते होगे तो नही छोड सकेंगे। तुमको पता है कि पोलिटिकल एजेण्ट को वे नाही कह चुके थे। यह बात प्रकट न होती तो मेरे पत्र के असर से तुम्हारा काम बनने की सभावना थी। अब जो शख्स पोलिटिकल एजेण्ट के कहने से मुल्जिमो को न छोडे, वह गाधी के कहने से छोड दे तो उसे गद्दी ही छोडनी पडे। पोलिटिकल एजेन्ट उन्हे खा जायगा। अपने मित्रो के साथ, जिन्हे तुम्हारे मित्र छुडाना चाहते है, अनजान में कैसा शत्रु का काम किया है ? खैर, अब इसका प्रायश्चित्त तो यही है कि आगे तुम मुझसे यह जानने की कोशिश न करना कि मै इस विषय मे क्या कर रहा हू। तुमसे कहकर मै दुबारा जोखिम उठाना नही चाहता।" यह प्रायश्चित्त करके या सजा पाकर मैं अपना-सा मुह लेकर घर लौटा।

: २६ :

आग्रही, पर एकांगी नहीं

जोधपुर के एक कार्यकर्त्ता थे—बडे सच्चे, नेक और व्रत-सयम पर श्रद्धा रखनेवाले। ब्रह्मचर्य साधन की बडी उत्सुकता उन्हें थी। विवाहित थे। विवाह हुए दो-चार साल ही हुए होंगे, परन्तु उन्होने ब्रह्मचर्य से रहने का नियम बना लिया। ईमानदारी से उसके पालन की कोशिश भी करते थे, परन्तु एक बात से बडे परेशान थे—उनकी पत्नी का सहयोग नही मिला था। उन्हे बापू का एक वचन याद था कि दम्पती मे से यदि एक भी पक्ष चाहे तो दूसरे की राह देखे बिना ब्रह्मचर्यव्रत ले सकता है। इसके अनुसार वे चल रहे थे। परन्तु बेचारी धर्मपत्नी की बडी बुरी दशा थी। जबरदस्ती के इस सयम से भीतर-ही-भीतर उसका मन कुण्ठित होने लगा। आखिर वह खब्ती-सी हो गई। शायद हिस्टीरिया भी हो गया था। उसकी शक्ल देखते ही तरस आता था। चेहरा उदास, आखे शून्य मे बदहवास-जैसी दीखती थी। वे भाई बडी दुविधा मे पडे। मुझसे सलाह लेने आये। मैंने सीधे-सादे ढग से व्यावहारिक सलाह दी कि आपको गृहस्थ-जीवन ही व्यतीत करना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य आपको फलेगा नही। कुछ समझाया भी, पर बात उनके गले न उतरी। तब मैंने सुझाया—अच्छा, बापूजी से पूछ लो।

इत्तफाक से थोडे ही दिनो मे बापू अजमेर स्टेशन से गुजरे। शायद अहमदाबाद जा रहे थे। अजमेर से ब्यावर स्टेशन तक मैंने उन दम्पती को बापू से बातचीत करने का अवसर दिला दिया। मै भी मौजूद

था ही। मुझे अपनी सलाह के औचित्य पर विश्वास था, परन्तु उत्सुकता थी कि बापू क्या सलाह देते हैं। मुझे बडा आनन्द हुआ, जब देखा कि बापू ने भी उन्हे ठीक वही सलाह दी, जो मैने दी थी। मगर बापू की एक दलील बडी लाजवाब थी। वही काम कर गई। उन्होने कहा, "तुम्हारा ब्रह्मचर्य मुझे कच्चा मालूम होता है।" दोनो पति-पत्नी बोले, "नही, जब से लिया है, तब से बिलकुल भग नहीं हुआ है।" बापू बोले, "ठीक है, मगर उसका असर तुम्हारे (पत्नी के) मन पर अभी तक नही हो पाया। सच्चे ब्रह्मचर्य का यह परिणाम अवश्य निकलना चाहिए कि जो उसके सम्पर्क में आवे उसका मन विकारो की ओर से फिर जाय। यह तो, चौबीसो घटे तुम्हारे साथ रहती है, फिर भी याकुलता से गृहस्थ-जीवन चाहती है, तो तुम्हारे ब्रह्मचर्य में जरूर कमी है और तुम्हें अपना आग्रह छोडकर इसको सतोष देना चाहिए।" पत्नी का चेहरा खिल गया। उन भाई को भी ऐसा लगा कि एक परेशानी से छूटे।

बापू आग्रही तो थे, पर एकागी नही थे। एक वैज्ञानिक की तरह वे अपने या दूसरो के प्रयोगो को बडी बारीकी से देखते थे और उनके परिणामो पर से उनकी गहरी छान-बीन करते थे। इसीसे बडे-बडे और कुछ तो भयकर समझे जानेवाले प्रयोगो से उन्हें सदैव बल, स्फूर्ति व प्रगति मिली है। गाडी कहा अटक रही है, वह फौरन भाप लेते थे और अधिकारी को देखकर वैसी सलाह उसे देते थे।

: २७ :

विरोधी को जीतने का अद्भुत जादू

बापू में सामने वाले विरोधी को आनन-फानन में जीत लेने का अद्भुत जादू था। अजमेर के मेरे एक आर्यसमाजी मित्र बापू के बडे आलोचक थे। बापू के प्रति उन्हें श्रद्धा तो कम नही थी, परन्तु उनके विचारो, खासकर अहिसा-सम्बन्धी विचारो को हानिकर मानते थे। बडे स्पष्टवादी और मुहफट थे। अक्सर कहा करते थे कि महात्माजी से मेरी भेंट करा दो तो मै उन्हे खरी-खरी सुनाऊगा। मैं 'हा-हा' तो कर दिया करता था, पर मन में डरता भी था। सयोग से एक दिन बापू अजमेर से गुजरे और हम लोग स्टेशन पर उनके दर्शनार्थ गये। वे मित्र भी आ पहुचे। मुझसे उनके सामने ही कहा, मेरा परिचय करा दो।" अब तो मुझे बापू से कहना ही पडा, "बापू, ये हमारे आर्यसमाजी मित्र हैं। बडे दबग व आपके विचारो के आलोचक है। बहुत बार आपसे मिलने के लिए इन्होने मुझे कहा है।"

बापू—(हसते हुए) "हा, हा, जरूर। इनकी बातें तो जरूर सुनूगा।" मित्र डिब्बे के अन्दर पहुचे व खडे-खडे ही अपनी बौछार शुरू की। बापू सुनते रहे। उन्हें कुछ कहने का अवसर नही मिला था कि गाडी ने सीटी दी। मित्र की बात भी अधूरी रह गई। वे स्टेशन पर उतर पडे।

मैं बापू के साथ ट्रेन में आगे गया। मित्र के अक्खडपन पर मन में झेंप रहा था। अपनी झेप मिटाने के लिए मैंने अपराधी की तरह कहा, "बापू, मै जानता था कि ये आपको खरी-खोटी सुनावेंगे, मगर"—

बीच में ही बापू, जैसे मेरी झेंप को भापकर, बोले, "मगर मुझे तो अफसोस है कि ज्यादा वक्त नही था, नही तो मै उनकी बातें और भी सुनता। उन्हें पूरा समय देता।"

मै झकपका गया। बापू को मैने कितना छोटा मान लिया था!

: २८ :

मीठी चुटकियाँ

बापू बडी मीठी चुटकी लिया करते थे। वह नसीहत से खाली तो होती ही नही थी। सामनेवाले को जाग्रत करने का यह अहिंसात्मक तरीका है। मै आश्रम मे रहा था, बापू के ही आदेश से राजस्थान मे काम करने आया था। उन्हे आश्रम-जीवन के अनुकूल ही मेरा जीवन देखने की अपेक्षा थी। मै भी प्रयत्न तो ऐसा ही करता था, परन्तु एक बार बडी मुह की खानी पडी। मै पुष्कर गया हुआ था—सपरिवार। उस समय मेरे एक ही सन्तान थी—शकुन्तला। वह चार-पाच साल की होगी। मेरी अजानकारी में मा ने उसे कान के बुन्दे ला दिये थे। उन दिनो वे नये-ही-नये चले थे। पुष्कर मे शकुन्तला मेरे पास आई और बापू की गोद मे पहुच गई। उन्होने बुन्दे पकडकर हसते हुए कहा, "अच्छा, हरिभाऊ की लडकी भी यह पहनती है!" मेरे काटो तो खून नही। अब यह कहता हू कि माताजी ने मुझसे छिपाकर ला दिये है तो अपने छुटकारे के लिए मा को उनके सामने नीचा दिखाता हू। मुझे लज्जित देख बापू शायद समझ गये। उससे पूछा, "क्यो, माजी ने ला दिये है न?" शकु ने मेरी ओर देखते हुए गर्दन हिलाकर 'हा' का भाव प्रकट किया।

बापू बोले, "अच्छा, अच्छा, अभी तुम्हे आश्रम मे और रहना चाहिए।"

× × ×

एक बार अजमेर स्टेशन से ट्रेन मे जाते हुए बापू मेरे कुछ प्रश्नो का उत्तर दे रहे थे। बडी सूक्ष्मता से मुझे समझा रहे थे। किसी एक मुद्दे का मैं विचार करने लगा। अब ध्यान तो उस मुद्दे मे लग रहा था—इधर बापू कहते जाते थे और मै 'हा-हा' कहता जाता था। मेरी आखो से बापू ने देख लिया कि मै किसी और ही दुनिया मे हू। झट पूछ बैठे, "समझे ?" मेरे मुह मे उसी समय हठात् निकल गया, "हा।" फिर हसकर पूछा, "क्या समझे ?" अब मुझे होश आया। जवाब क्या देता ? समझा तो कुछ खाक भी नही था। उनका मुह देखता हक्का-बक्का हो रहा। झेंपते हुए कहा, "बापू, मै तो किसी और ही विचार में पड गया था। यो ही 'हा-हा' कहता रहा।"

बापू बोले, "सो तो मैने देखा, तभी तो तुमसे पूछा। मै बात करते समय सामने वाले की आखो व चेहरे को देखता रहता हू। जब यह मालूम होता है कि यह सुनी-अनसुनी करता है तो या तो बातचीत बन्द कर देता हू, या विषय बदल देता हू।"

× × ×

राहतजी ने एक आपबीती मुझे सुनाई थी। बापू आगरा आये थे। राहतजी उनसे मिलने गये। बापू ने दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम जब शुरू किया तब जो हिन्दी-प्रचारक वहा पहले-पहल पहुचे थे, उनमे भाई क्षेमानन्दजी राहत भी थे। वे हिन्दी के अच्छे लेखक, कवि व बडे विनोदशील थे। बापू से उनका तभी से सम्पर्क था। इन दिनो वे मेरे साथ 'त्यागभूमि' का सपादन कर रहे थे। 'त्यागभूमि' का 'प्रताप-अक' निकालना था। शायद उसी सिलसिले मे मिलने गए थे। आगरे मे बापू के डेरे पर ही ठहरे थे। बापू को कही जाना था। राहतजी भी साथ जाने वाले थे। बापू आगे चल पडे, राहतजी पीछे रह गये। वे गले मे मालवीयजी की तरह दुपट्टा डालते थे। उसे खोजने व गले में डालने में देर हो गई। बापू रुक गये। आते ही पूछा, 'क्यों, पिछड क्यो गये ?"

"दुपट्टा डालने में रह गया।"

"दुपट्टे की क्या जरूरत है ? देखो, मेरे तो नही है ।"
"दुपट्टे से शोभा बन जाती है ।"
"हा, लेकिन कीमत कम हो जाती है ।"

: २६ :

योग्य उत्तराधिकारी

१९२८ में एक बार बापू को गश आ गया । कुछ ऐसे सयोग आकर जुट गये थे कि उनके निकटवर्त्तियो को ऐसा लगने लगा था कि अब बापू ज्यादा दिन नही रहेगे । । मै इत्तफाक से उस दिन वही था। मुझे जल्दी ही आश्रम से जाना था, परन्तु बापू की तबीयत देखकर जी हुआ कि पाच-सात दिन ठहरकर चलना ठीक रहेगा । श्रद्धेय जमनालालजी भी वही थे । बाद को हम दोनो को ऐसा लगा कि किसी भी—बडे-से-बडे—कारण से भी अपना निश्चित कार्य-क्रम बदलना बापू को अच्छा नही लगेगा, खासकर उनके खातिर। अब हम दुविधा में पड गये । एक ओर पूज्य बापू के आशकित विछोह की हृदय-विदारक कल्पना, दूसरी ओर कर्त्तव्य का व बापू की रुचि का आह्वान । अन्त में भगवान् ने या बापू के पुण्य ने हमें बल दिया। हमने सोचा कि ऐसी कमजोरी रखने से तो बापू का बोझ बढेगा । हमें बापू का मोह छोडकर उनके कार्य का ही ध्यान रखना चाहिए । हम अपना निश्चय सुनाने व बिदा लेने बापू के पास गये ।

वे खटिया पर पडे हुए थे। डाक्टरो ने उन्हे पूर्ण आराम की हिदायत दी थी । श्री शकरलालभाई बैंकर डाक्टरो से जोड-तोड भिडाकर बापू को ज्यादा आराम देने व दूध आदि अधिक पिलाने का प्रयत्न कर रहे थे । शकरलालभाई व जमनालालजी के मिजाज में यही अन्तर था कि शकरलालभाई को बापू का मोह अधिक था, जबकि, जमनालालजी उनके काम का, उनका बोझ हल्का करने का

ध्यान अधिक रखते थे। हमने बापू से कहा, "आपकी तबीयत देखकर हम अपना कार्य-क्रम बदल रहे थे। पीछे सोचा कि एक दिन तो ऐसा आने ही वाला है, जब कि आपका वियोग हमको सहना है। हमें उसकी तैयारी कर रखनी चाहिए। ऐसा न करके यदि हम आपके पास रहेंगे तो हमें तो बहुत ही बेफिक्री हो जायगी, परन्तु इससे आपको दुःख ही होगा। आपको यह पसन्द नही कि आपके खातिर आपका काम बिगड़े। अतः हमने जाने का ही निश्चय किया है और यदि आपको ज्यादा दिन जीने देना है तो आपके काम का बोझ जितना हल्का किया जा सके, करना हमारा धर्म होगा।"

बापू बहुत प्रसन्न हुए। मुह मटकाकर कहने लगे—"हा, तुम ठीक कहते हो। मुझे ऐसा नही लगता कि मुझे कुछ होने वाला है। परन्तु देह का क्या? काम का ही विचार सदैव अच्छा होता है। तुम लोग निश्चिंत होकर जाओ।"

"हम लोगो ने यह भी निश्चय किया है कि अब से मामूली सलाह-मशविरे के अलावा आपको कष्ट नही देंगे। आपका सिद्धात भरसक समझ लिया है। असली बात तो उसका अमल करना है। इसके लिए तो दूर रहकर भी आपका आशीर्वाद मिलता रहेगा और वह हमें बल देता रहेगा।"

बापू—"हा, ठीक है। ऐसा ही सोचना चाहिए।" हमने प्रणाम करके विदा ली, मगर मन पर कुछ बोझ रहा ही। यही सप्ताह बापू के लिए कठिन कहा जाता था। उसके निकल जाने पर हमने सतोष की सास ली व भगवान् को अनेक धन्यवाद दिये।

: ३० :

बापू के पुण्य प्रभाव से

बापू ने जेल में २१ दिन तक का उपवास किया था। मुझे जहा तक याद है, दूसरी गोलमेज परिषद् के बाद जो दमन का दौर चला, उस सिल-

सिले की यह घटना है। शायद हरिजनो के सबध मे था। उन दिनो बापू पहले से ही कमजोर हो रहे थे। एकाएक यह समाचार सुनकर सब के होश फाख़्ता हो गए। लेकिन मेरे दिल ने कहा—बापू का कुछ भी नही बिगड सकता। लोकमान्य तिलक जब बीमार हुए तो न जाने क्यो मुझे ऐसा लगा था कि अब ये नही बचेगे। और ऐसा ही हुआ। इस बार अन्तरात्मा ने कहा कि बापू इस उपवास से जीते-जागते निकल जायेगे। उन दिनो मैं शान्ताक्रूज, बम्बई मे इलाज करा रहा था। वहा के गाधी-भक्तो ने बापू के दीर्घजीवन के लिए एक प्रार्थना-सभा की आयोजना की। उसमे मेरा भाषण रखा गया था। ऐसे अवसर पर क्या बोलू, कुछ समझ मे नही आता था। लोग बहुत अधीर और बदहवास-से हो रहे थे। बापू के प्रति लोगो का जो सहज भक्ति-भाव था, उसे देखते हुए यह स्वाभाविक ही था, परन्तु मेरे मन मे यह प्रश्न उठा कि क्या इस तरह हम बापू को सतोष पहुचायेगे ? अपने को उनके सच्चे भक्त, शिष्य या उत्तराधिकारी साबित करेगे ? इस प्रश्न ने मेरे दिमाग का दरवाजा खोल दिया। मैने कहा—"मुझे तो तनिक भी डर नही कि बापू को इस उपवास से कोई आच आवेगी। यद्यपि बापू का शरीर कमजोर हो गया है, फिर भी उसमे इतनी सात्विक शक्ति सचित है कि उनका बाल भी बाका नही हो सकता। दूसरे भोगी लोग अधिक खाते और अधिक गवाते है, योगी थोडा खाते और अधिक सचित करते है। बापू अपनी इद्रियो द्वारा जितनी शक्ति ग्रहण करते है, उसमे बहुत कम खर्च करते है। अत उनकी पूजी बहुत है। साधारण भोगी जहा एक ही उपवास मे ढीला-ढाला हो जाता है, वहा बापू जैसे योगी कई उपवासो को सहन करके भी शक्ति नही गवाते, बल्कि उल्टा अधिक प्राप्त करते है। अत हमे उनके विषय मे चिन्तित होकर हतबुद्धि होने की आवश्यकता नही है।"

एक और बात। यदि बापू को जिलाना ही है तो हम रो-धोकर उन्हे नही जिला सकते। यदि वे सुनेंगे कि मेरे पीछे लोग रो-धोकर ही बैठ

आने वाले हैं तो वे जल्दी मरना पसन्द करेंगे। ऐसे निकम्मे उत्तराधिकारियो को पीछे छोड जाने में बापू की जिन्दगी का लुत्फ नही मिल सकता। परन्तु यदि हम उन्हे यह सदेश भेजे कि बापू, हमे तो यह आशका जरा भी नही है कि आपको इस उपवास मे कुछ हो जायगा, परन्तु यदि हो ही जाय तो आप विश्वास रखिए कि हम आपके अधूरे काम को पूरा करने मे कोई कसर बाकी न रखेगे, आप बहुत शाति व निश्चिन्तता के साथ देह छोडे, तो मै समझता हू, बापू जानेवाले भी अवश्य रुक जायगे। हमें उनके सामने निकम्मा नही साबित होना है। लोगो के हृदय मे यह बात बैठ गई। बाद को बापू इस अग्नि परीक्षा से सही-सलामत निकल आए और उपवास सफल भी हुआ—पूना पैक्ट के रूप मे मुझे ऐसा लगता है कि बापू के पुण्य-प्रभाव से ही मुझे ये विचार सूझे थे।

: ३१ :

पिता, गुरु और नेता

बिजोलिया (मेवाड) के उदयपुर राज्य का समझौता कराके मै सत्याग्रह मे (१९३०मे) जेल चला गया। बाद मे मालूम हुआ कि उसकी एक शर्त का पालन राज्य की ओर से नही हो रहा है। इस समाचार मे मुझे जेल मे बडी बेचैनी हुई। यदि उस शर्त का पालन न हुआ तो किसानो के साथ बडा धोखा होगा और इसमे मेरी जिम्मेदारी कम नही है। जेल से न जाने कब छुटकारा होगा और जेल मे बैठे अब उपाय भी क्या किया जा सकता है। ऐसी उधेड-बुन मे मेरा मन बडा अशात रहने लगा। एक दिन मै अपने मन को प्रार्थनामय कर रहा था कि मुझे एकाएक सूझा—यदि कुछ न बन पडा तो अन्त में मैं प्राणो की बाजी लगा दूगा। जब कोई पक्ष समझौते को भग करता है तो दूसरे पक्ष को उपवास करने का अधिकार हो जाता है। मैं आमरण

उपवास करूगा । इस विचार से मुझे बडी शांति मिली । जब किसी बात के लिए अन्तिम अस्त्र छोडने की—ज्यादा-से-ज्यादा कुरबानी करने की—तैयारी कर लेते हैं तब हममें हजार हाथी का बल आ जाता है । मुझे ऐसा लगने लगा मानो मैंने राजवालो से शर्त मनवा ही ली है ।

जेल से छूटने पर मैंने जमनालालजी से अपना विचार कहा तो वे चिन्तित हो गए । वे मेरे स्वभाव को जानते थे कि मै जो ठान लेता हू, वह करके छोडता हू । उन्होने सोचा कि बापू के पास ले जाकर मुझे मनवा देंगे । मुझसे कहा—"ऐसा करो, हम बापू से इस विषय मे चर्चा कर लें । वे जैसी सलाह दें, वैसा करना ठीक रहेगा ।" उन्होने बापू से कहा, "हरिभाऊ बिजोलिया के मामले में आमरण अनशन की सोच रहा है, बहुत सेंसिटिव (भावुक) है, इसलिए आपके पास लाया हू । कही कुछ-का-कुछ कर न बैठे ।"

"ऐसी सेंसिटिवनेस तो मुझे पसन्द है । जबतक मनुष्य मे यह रहती है तबतक उसे जीवित व प्रगतिशील समझो । अपने कर्तव्य का, जिम्मेदारी का, जिसे भान नही, वह मनुष्य ही क्या ? हरिभाऊ का इसका भान है, यह अच्छी बात है, परन्तु मेरी समझ में इसे जल्दी करने की जरूरत नही है । यह जानता है कि उपवास तो अन्तिम उपाय है । पहले और कई कार्रवाइया की जा सकती हैं ।" फिर उन्होने मुझे वहा रचनात्मक काम और सगठन करने की सलाह दी, लोगो मे फिर बल आ जाय और उसके द्वारा समझौते की शर्तें मनवाना आसान हो जाय । अन्त में एक दूसरा सत्याग्रह ही वहा करना पडा ।

बापू ने जितनी कद्र करने योग्य बात थी, उसकी कद्र की, जितनी अनावश्यक या अप्रासगिक थी, उसके लिए मुझे समझाया व अन्त में रास्ता भी बताया । इसीसे वे पिता, गुरु, नेता, तीनो पदो को विभूषित कर सके थे ।

मुझे सस्थाओ के बडे व सूक्ष्म विधि-विधान नियम कार्य-साधक के बजाय कार्य-बाधक अधिक मालूम होते हैं । मेरे विधानवादी मित्रो से

अक्सर मेरा झगड़ा हो जाया करता था। एक बार वर्धा मे मैंने बापू से पूछा, "बापू, सस्थाओ के ये विधि-विधान तो मुझे मनुष्य को जकड़ले हुए-से मालूम होते हैं। मेरा अबतक का अनुभव तो यह है कि काम करनेवाले के मार्ग में तो ये बाधक होते है और जिन्हे काम नही करना है, बिगाडना है या बखेडा पैदा करना है, उनके लिए बड़े अच्छे साबित होते है। ये हमारे पाव की बेडिया हैं और उनके हाथ में कुल्हाडी हो जाते हैं। इनके कारण काम मे देर भी बहुत लगती है और अपनी योजना, प्रस्ताव, कार्यक्रम पास कराने मे बडी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है, परन्तु यदि किसीको काम अडाना है तो वह फौरन किसी-न-किसी नियम या धारा का सहारा लेकर उसे रोक देता है। आप बैठे रहिए अपना-सा मुह लेकर।"

बापू ने कहा—"तुम्हारा कहना ठीक है। जैसे-जैसे व्यक्ति या सस्था का विकास हो, वैसे-वैसे नियमो की पकड़—सख्ती—भी ढीली होनी चाहिए। उनकी व्यापकता बढनी चाहिए। नियमो का पालन बाहरी दबाव से नही, भीतरी उत्साह से होना चाहिए। कही नियम मानना व कही तोडना, यह विवेक ही सत्याग्रह की कुजी है, नियम-विधान को आमतौर पर मानने व पालने की वृत्ति से इसका विकास होता है। फिर एक समय ऐसा आ जाता है, जब मनुष्य का स्वभाव ही नियम-विधान-पालन का बन जाता है, तब नियम-विधान उसे बाधक नही मालूम होते।"

: ३२ :

सरदार की विशेषता

जयपुर-सत्याग्रह शुरू करने के पहले श्री जमनालालजी ने, जो इसके नेता थे, भाई हीरालालजी शास्त्री आदि जयपुर राज्य प्रजामण्डल की कार्यकारिणी के सदस्यो से कहा था कि यदि कार्यकारिणी के पाच-छ.

सदस्य भी जेल जाने को तैयार हों तो मैं पूज्य बापू के आशीर्वाद लेने का प्रयत्न करूंगा। उनकी शर्तें जो कुछ हो, परन्तु मेरी यह कम-से-कम शर्त है और मै आशा रखता हू कि बापूजी का आशीर्वाद मिल जायगा। यह शर्त मानकर श्री शास्त्रीजी, स्व० पाटणीजी, श्री हरलालसिंहजी आदि बारडोली गये। उन दिनो बापू का पडाव बारडोली में था। मैं भी साथ था। वहा श्रद्धेय जमनालालजी ने उसी ऐतिहासिक बड के पेड के नीचे, जिसके नीचे बापूजी ने पहले महान सभायें की थी, फिर अपनी शर्त को दुहराया और इन मित्रों ने अपनी प्रतिज्ञा दृढ की। बापूजी ने आशीर्वाद दिये और कहा कि इसके सगठन व तफसील का काम जमनालालजी करेंगे, परन्तु यहा सरदार (पटेल) भी मौजूद है। उन्हे बारडोली-सत्याग्रह का खूब अनुभव है, अत उनकी भी सलाह ले लो।

बापूजी ऊपर के कमरे मे थे, उसके ठीक नीचे सरदार का कमरा था। वे एक चटाई पर बैठे हुए थे। मैने या शास्त्रीजी ने उनके सामने प्रश्न रक्खा—हम लोग जयपुर में सत्याग्रह करना चाहते है। बापू की सलाह लेने आये थे, अब आपसे भी सलाह लेना चाहते है।

सरदार ने अपनी निराली अक्खडता से कहा, "सत्याग्रह करना चाहते हो या सत्याग्रह नही करना चाहते हो ?"

"सत्याग्रह नही करना होता तो बापू के पास आने की जरूरत ही नही थी ?"

"नही, यदि सत्याग्रह करना है तो बापू के पास आने की क्या जरूरत थी ? न करना हो तो उनके मत्थे टालकर बरी हो सकते हैं कि हम तो सत्याग्रह करना चाहते थे, बापू ने मना कर दिया !"

हम एक-दूसरे का मुह देखने लगे। फिर सरदार बोले, "मैं तो जब कभी कोई काम शुरू करता हू तो बापू से नही पूछता। कही शका हो तो पूछना ठीक है। अत यदि सत्याग्रह करना ही है तो अपने-आप से पूछकर निश्चय करो। न बापू की सलाह लो, न मेरी। सत्याग्रह तो आप लोगो को करना है, न कि हमें।"

सरदार की सीधी साफ बात का बड़ा असर हम लोगों पर हुआ। एक नया प्रकाश-सा मिला।

हमने कहा, "निश्चय तो हमने कर लिया है, जमनालालजी के नेतृत्व में सत्याग्रह होगा। बापू के सिर्फ आशीर्वाद चाहते थे। आपको बारडोली के सत्याग्रह का विस्तृत अनुभव है। अत आपसे उसका लाभ उठाना चाहते है। बापूजी ने ही आपके पास भेजा है।"

"हां, तो ठीक।" कहकर बहुतेरी सूचनाए उन्होने दी। उस उमय की सरदार की मुख-मुद्रा और उनके दो चार वाक्य आज भी मेरे सामने मूर्तिमान् हो जाते है—"सत्याग्रह करना है तो बापू से क्या पूछना ?" इस एक ही वाक्य में सरदार के चरित्र की सारी विशेषता आ जाती है।

: ३३ :

बापू की सिखावन

बापू राजकोट का सत्याग्रह स्थगित करा चुके थे। उन दिनों कई देशी रियासतो में स-याग्रह की धम मच रही थी। जयपुर मे तो चल ही रहा था। उसके नेता श्री जमनालालजी तथा कार्यकारिणी के सदस्य जेल में पहुच चुके थे। कई सौ स्वयसेवक गिरफ्तार हो चुके थे। सत्याग्रह का दृश्य जयपुर मे ऐसा दीखता था, मानो कोई रामलीला हो रही हो। बापू राजकोट से दिल्ली आ रहे थे। रास्ते में हमें उनसे मिलकर जयपुर स याग्रह का हाल बताना था। देशपाडेजी व मै उनसे मिलने शायद सोजत स्टेशन (मारवाड) गये थे। जबसे हमने सुना कि राजकोट का स-याग्रह बापू ने इसलिए बन्द करा दिया है कि स-याग्रह के नियमो का पालन उसमें ठीक ठीक नही हो रहा है, तबसे हमको भी चिन्ता हो गई थी, क्योंकि जयपुर स याग्रह में भी ऐसा हो रहा था। जेल से व जेल कैंपों से ऐसी-ऐसी खबरें आ रही थीं कि मुझे डर

हुआ कि बापू जयपुर का भी सत्याग्रह स्थगित करा देंगे। पहले तो विभिन्न जेलखानो में जाकर तथा जयपुर मे कार्यकर्त्ताओ से मिलकर उन सब बातो को ठीक करने का प्रयत्न किया, जो सत्याग्रह की दृष्टि से गलत हो रही थी, फिर बापू को हमने सब हाल सुनाया। तब उन्होंने वही प्रश्न किया, जिसकी हमको आशका थी—"तुम्हारा सत्याग्रह तो ठीक-ठाक चल रहा है न ? कोई गडबड तो नही है ?"

हमारा चेहरा सूखने लगा। मैंने कहा, "बापूजी, कह तो नही सकते कि सब ठीक ठाक चल रहा है, गलतिया तो हो ही रही हैं, परन्तु हम लोग पूरी पूरी कोशिश कर रहे है कि गलतिया रुकें व आगे न होने पावें। आपके आदर्श का खयाल तो बहुत रखते है, परन्तु मजे व सधे हुए कार्यकर्त्ता थोडे है। नये-नये ज्यादा है। जो ज्यादा जिम्मेदार थे, वे सब जेलो मे बन्द है। फिर भी हम आपको दुख का कारण नही पैदा होने देंगे।" मैंने यह सब कहा तो, पर भीतर-ही-भीतर मेरा दिल बैठा जा रहा था।

बापू गम्भीर हो गये—"हा, सो तो मै जानता था। अच्छा दिल्ली चलकर और बातें करेंगे।" फिर राजकोट के सत्याग्रह की एक-एक त्रुटि बताने लगे, ताकि हम अपनी जिम्मेदारी और अच्छी तरह से समझ लें।

अन्त मे दिल्ली जाकर उन्होंने यह सलाह दी कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। मुझे कुछ ऐसा याद पडता है कि बाद मे उन्होंने बहुत सीमित रूप में चुने हुए लोगो द्वारा सत्याग्रह करने की छूट दे दी थी। जो हो, उस समय उनका सभाषण यहा देने योग्य है।

हम—"बापूजी, एकदम स्थगित कर देने से तो लोग हतोत्साह हो जायगे, साथ ही यह भ्रम भी फैल जायगा कि सत्याग्रह में अशुद्धि होने से बापूजी ने बन्द कर दिया।"

बापू—"लेकिन मैं चाहता हू कि तुम लोग मुझे एक मौका दो—और इसलिए मै कहता हू कि सत्याग्रह स्थगित कर दो।"

अब तो हम लाजवाब हो गये, लेकिन बापू देख रहे थे कि हम लोग खिन्न व निरुत्साह हो रहे हैं। बोले, "देखो, मै मानता हू कि जयपुर का

मसला हल करने के लिए तो अकेले जमनालालजी ही जेल में पडे रहें तो काफी है। उनकी कुरबानी को भी यह सरकार पचा नही सकेगी। और मै एक बात कहता हू—उसे तुम लोग अपने ही तक रखना। लार्ड लिनलिथगो मुझसे पहले ही कह चुके है कि जयपुर का मामला मै निपटा दूंगा।"

"लेकिन ये लोग जब हमारा आन्दोलन तेजी पर होता है तब आश्वासन देते हैं, पीछे टाल-टूल करते है।"

"हा, ऐसा भी होता है, परन्तु लार्ड लिनलिथगो को मुझे कुछ समय देना चाहिए। और इसलिए मैं तुम लोगो से समय मागता हू। लार्ड लिनलिथगो चाहे भी तो एकाएक उसे—तत्कालीन जयपुर का एडमिनिस्ट्रेटर जो अग्रेज था— हटा नही सकते। उसके लिए उन्हे जमीन तैयार करनी पडती है, जिसमे काफी समय लग जाता है। नीचे के अफसरो को राजी करना पडता है। देखो, मुझको तो तुम लोग इतना मानते हो, फिर भी जो बात मै चाहता हू, तुम लोगो से आसानी से व झट-पट थोडे ही करा पाता हू। कई बाते तो मुझे छोड भी देनी पडती हैं। मेरे पास तो कोई ऐसा कडा तन्त्र नही है, फिर भी इतनी दिक्कत पेश आती है। वाइसराय तो कठोर तन्त्र से बधा हुआ है। अत: उसे मुझसे भी अधिक समय चाहिए।"

अब जब कभी दूसरो से कोई काम लेने या करवाने के अवसर आते है तो बापू के ये वचन बहुत धीरज बधा देते है और प्रकाश-पथ का काम देते हैं।

: ३४ :

सही सलाह

महाराष्ट्र के कुछ अखबार जमनालालजी पर ऐसे इल्जाम लगाते थे कि ये काग्रेस के खजान्चीपन का दुरुपयोग करते हैं—रुपये-पैसे में

गड़बड़ करते हैं। जमनालालजी ठहरे व्यापारी आदमी। एक व्यापारी व्यवसायी के लिए प्रत्यक्ष धन की अपेक्षा साख की कीमत ज्यादा होती है। जमनालालजी को लगा कि ऐसे हमलो का यदि मैं प्रतिकार न करू, चुपचाप बर्दाश्त करता रहू तो लोग, खासकर व्यापारी, यही समझेंगे कि कुछ दाल में काला हैं। उनके मन मे उथल-पुथल मच रही थी कि क्या उपाय करें। ले देकर 'मानहानि' का मुकदमा उन पत्रो के सम्पादको पर चलाने की बात उनके मन मे आया करती थी। वे यह भी सोचते थे कि मानहानि की नालिश करने से अपने आप हमारे बहीखाते अदालत में पेश होगे, सामनेवाली पार्टी को उनकी जाच व छानबीन का अच्छा अवसर मिलेगा जिससे लोगो का भ्रम अपने आप दूर हो जायगा। इत्तफाक से उन दिनो श्री घनश्यामदासजी बिडला भी वर्धा ही थे। तब महात्माजी सेवाग्राम रहने नही गये थे। जमनालालजी ने घनश्यामदासजी से राय मागी। मै भी मौजद था। हम दोनो ने कहा कि मानहानि के मुकदमे के चक्कर मे पडना फिजूल है। इस विषय मे मैंने स्व० गणेशजी—शहीद गणेशशकरजी विद्यार्थी—की एक नसीहत सुनाई जो मुझे उन्होने कानपुर में एक अवसर पर दी थी। १९२० मे मैं गणेशजी का 'पर्सनल असिस्टेन्ट' रहा था। 'प्रताप' का देशी-राज्य विभाग मेरे जिम्मे था। इन्दौर के एक बदनाम पुलिस अफसर के बारे मे मैंने ऐसी टिप्पणी लिख दी जो 'मानहानि' मे आ सकती थी। इदौर से उनके वकील ने गणेशजी को नोटिस भेजा। गणेशजी चिन्ता मे पड गये। मुझसे कहा, "भाऊजी, राजद्रोह का मुकदमा अच्छा, मानहानि का मुकदमा तो पिछले जन्म के पाप का उदय ही समझो। 'प्रताप' पर कई मानहानि के मुकदमे चले है। हमने डटकर उनका सामना किया है, पर मै जानता हू कि कितनी मुसीबत व बरबादी उठानी पडी है। राजद्रोह से तो हम तुरन्त शहीद बन जाते है और चारो ओर से प्रशसा, मान और धन की वर्षा होने लगती है। परन्तु 'मानहानि' को लोग व्यक्तिगत मामला समझकर छोड देते हैं और कोई भाव नही पूछता। राजद्रोह में वकील भी कई बार मुफ्त मिल जाते है, पर मान-

हानि में सब रुपये मानते हैं। अतः आयन्दा 'मानहानि' की जोखिम हरगिज मत उठाना। इस मामले को तो मैं निपटा लूगा।"

मैंने यही किस्सा जमनालालजी को सुनाया, पर उन्हे कुछ जचा नही। आखिर तय हुआ कि चलो, बापू से पूछें। तीनो बापू के कमरे में पहुचे। जमनालालजी की बात सुनकर बापू ने पूछा—"तुम्हारे वर्किंग कमेटी के सदस्य क्या सोचते है? उनका तुमपर विश्वास है या नही?"

"उनका तो यह हाल है कि मैं हर साल खजान्ची पद से इस्तीफा देता हू, कहता हू किसी दूसरे को बना लो, पर वे हर बार मुझीको चुनते है। मैं इसलिए भी इस्तीफा देता हू कि आपने मुझे इसके लिए बहुत बाध रखा है। मुझसे अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी का खत लिखवाया है, यह मेरे लिए बडी जोखिम है। मैं इससे भी छूटना चाहता हू, परन्तु वे लोग नही मानते।"

"हा, तो फिर क्या चाहिए। जबतक आपके साथियो का विश्वास आप पर है, तबतक आपको कुछ भी करने की जरूरत नही है—मान-हानि का मुकदमा चलाना तो ठीक नही है। इससे कुछ फायदा नही होगा। मैंने जो तुमको खत लिखकर बाधा है सो तो मै अपने नजदीक के लोगो के साथ ज्यादा कडाई ही बरतता हू, सो तुम जानते हो। इसीमे उनकी व सार्वजनिक जिम्मेदारियों व सस्थाओ की रक्षा होती है। जहातक तुम्हारे बहीखाते व हिसाब-किताब की शुद्धता से सबध है, तुम उन्हें बम्बई के अपने दफ्तर मे एक नियत समय पर आम लोगो के देखने के लिए खुले रख सकते हो।"

परन्तु जमनालालजी ने आखिर 'मानहानि' का मुकदमा चलाना ही ठीक समझा। और अत मे अखबारवालो को सजाए हुईं। बहीखाते अदालत मे मगाये गये और वे शुद्ध पाये गये। यह लाभ तो हुआ, फिर भी इससे जमनालालजी को असमाधान ही रहा और उसे उन्होने मुझपर प्रकट भी किया। वे खरे आदमी थे, कहने लगे—"आपलोगो का कहना ही ठीक था। इस मुकदमे में कोई लाभ नही हुआ। जो सजा इन्हे मिली

उससे कही ज्यादा प्रचार इस मामले का हुआ। सजा को लोग यह कह कर उडा देंगे कि जमनालालजी जैसे प्रभावशाली व्यक्ति के मुकाबले में वर्धा मे कौन जीत सकता था, किन्तु इल्जामो का प्रचार न जाने कहा-कहा के अखबारो मे हुआ होगा।"

: ३५ :

मीठा विनोद

बापूजी का जीवन प्रयोगमय था। यह तो सभी जानते है, उनका विनोद व मीठा व्यग भी मजेदार हुआ करता था। एक बार कच्चे अनाज खाने का प्रयोग हुआ। साबरमती में मदरास के एक अन्नशास्त्री आये। वे अनाज को विधिवत भिगोकर खाने के लिए देते थे। आश्रम के कई लोग इस प्रयोग में शरीक हुए। बाद मे वह छोड दिया गया। एक रोज शाम को बापू अपनी कुटिया के आगन मे, खुले में, खटिया पर लेटे हुए थे। बा सिर मे तेल मल रही थी। सामने वे मदरासी महाशय खडे थे। हम कुछ लोग आसपास जमा हो गये थे। मदरासी सज्जन ने कहा—"बापू, दूध तो मनुष्य की खुराक नही है। मा का दूध ही मनुष्य की स्वाभाविक खुराक है। आप जो बकरी का दूध पीते हैं, यह भी ठीक नही है। पशु का दूध पीने से पशु के गुण आ जाते है।"

बापू के सोने का वक्त नजदीक आ रहा था। बापू खिलखिलाकर हस पडे और सोने के लिए अपनी टाग लम्बी करते और चादर ओढते हुए बोले—"हा, आप ठीक कहते है। देखो बकरी का दूध पीने से मेरे सीग उगने लगे है। अब तुम लोग भागो, नही तो सीग मार दूगा।"

हम सब लोग मारे हसी के उछल पडे। मदरासीभाई भी इस व्यग का रसास्वादन करते हुए रवाना हो गये।

: ३६ :

बापू की महानता

१९३४–३५ में बापू हरिजन-यात्रा के लिए निकले थे। अजमेर व ब्यावर भी गए थे। मैं साथ था ही। ब्यावर थोड़ी ही देर ठहरे थे। स्नान व भोजन का प्रबन्ध वही रखा गया था। चलतू प्रबन्ध किया गया था और दूसरे साथी भी शायद पीछे छूट गए थे या आगे चले गए थे। अत बापू के व्यक्तिगत कार्य का ध्यान वहा मैं रखता था। मुझे वैसे बापूजी की व्यक्तिगत सेवा के अवसर मिले ही नही। मुझे उनके शारीरिक सेवा की अपेक्षा उनके कार्यों की फिकर ज्यादा रहती थी, फिर उनकी कड़ाई से भी डरता था। किन्तु यहा तो उन्हें सभालना ही था। मैं बडी तत्परता से और बारीकी से सब बातो का ध्यान रखता था। बापू नहाने के लिए अपना कच्छा व तौलिया लेकर कमरे में गए। मैं बाहर खडा रहा इस फिराक मे कि बाहर निकलें तो मै कपडे धो डालू। बापू को बडी देर लगी। मुझे अचरज हुआ कि क्या बापू नहाने में इतना वक्त लगाते है। आशकाए होने लगी, मन भीतर से बेचैन होने लगा, पर आवाज लगाने की हिम्मत नही होती थी। इस उधेड-बुन मे परेशान था ही कि कमरे का दरवाजा खुला—बापू हाथ में धुले हुए कपडे लेकर बाहर निकले। मैं देखकर अवाक् रह गया। कुछ झल्लाये स्वर में बापू से कहा—"यह आपने क्या किया ? मै तो इसीलिए जबसे यहा खडा हू कि आप बाहर निकलें तो कपडे धो डालू। आपको बडी देर लगी तो मै चिन्ता में भी पड गया था।"

"धोलिये तो क्या हुआ, आज समय था तो सोचा चलो, कपडे भी धोता चलू।"

× × ×

इसी यात्रा के दिनो में अजमेर के एक मित्र के द्वारा स्वर्गीय अर्जुनलालजी सेठी ने बापू से कहलवाया, या शायद उन मित्र ने ही अपनी तरफ से प्रस्ताव रखा, कि बापू सेठीजी के घर मिलने जावें। सेठीजी अपने ढग के स्वतन्त्र व्यक्ति थे। बापू के प्रति श्रद्धा भी थी। और उनसे लड भी पडते थे। कानपुर काग्रेस में उन्होने बापूजी को बहुत खरी खोटी सुनाई थी और बापू शात चित्त से सब सुनते रहे। उन दिनो सेठीजी काग्रेस सगठन से भी दूर पड गये थे। उन मित्र को लगा कि यदि बापू उनके यहा चले जाय तो सेठीजी के दिल का सारा मलाल धुल जाय, बापू के प्रति फिर श्रद्धा-भक्ति का प्रवाह उनके मन मे उमड पडे व उनकी शक्ति फिर काग्रेस व बापू के कामो में लगने लगे। बापू ने मुझसे पूछा—"क्यो, तुम्हारी क्या राय है ?"

"हा, बापू जाने मे तो कोई हर्ज नही है, परन्तु मुझे यह विश्वास नही होता कि इससे सेठीजी की वृत्ति में कोई खास फर्क पड जायगा। आप जाना चाहें तो अवश्य जाय।"

"तो तुम साथ चलोगे न ?" उन दिनो सेठीजी मुझसे खास तौर पर नाराज थे। इसलिए बापू ने पूछा।

"क्यो नही ? सेठीजी को मैं अपना बुजुर्ग मानता हू, हालाकि वे मुझसे नाराज है। आपको शायद मालूम नही है कि सेठीजी जब वेलोर जेल से छूटकर इदौर आये थे तो मैं उन लोगो में से था, जो उनकी जय के नारे लगाते थे और एक देवता की तरह भक्ति-भाव से उनके चरणो पर अपना मस्तक रखकर अपने को कृतार्थ मानते थे। आज मुझे दुख है कि वह स्थिति इतनी बदल गई।"

"तो जाना ही ठीक है, तुम जैसा कहते हो वैसा ही नतीजा निकले—तो भी हमें शुभ कार्य करते हुए हिचकिचाना न चाहिए। तात्कालिक परिणाम अच्छा या मनोवान्छित न निकले तो भी शुभ

कार्य व शुभ भाव का जो परिणाम निकलेगा वह अच्छा ही होगा। बुरा हरगिज नही हो सकता। अत जाने में अच्छे परिणाम की आशा तो रखनी ही चाहिए।"

सेठीजी तो बापूजी को अपने घर मे पाकर गदगद् हो गये। हमलोग भी आनन्द-विभोर हो उठे। वह पुण्य स्मृति आज भी मुझे गद्गद् कर देती है। बापू की अहिंसा की थाह कौन ले सकता था ? इसीसे वे लगभग अजातशत्रु बन गये थे।

: ३७ :

लेने के देने

इसी अजमेर-यात्रा का एक चिरस्मरणीय सस्मरण और याद आ रहा है। बापू के एक पुराने मेजबा ने उन्हें अपने यहा शाम को भोजन करने का निमत्रण दिया। कुछ नौजवान उनसे नाराज थे। बापू की इस यात्रा में जो स्वयसेवको का जत्था तैयार किया था, उसके मुखिया व कुछ स्वयसेवको ने ठान लिया था कि वे बापू को उनके यहा न जाने देगे। पू० ठक्करबापा बापू के साथ यात्रा में थे और उसी मकान में ठहरे थे जिसमे बापू का डेरा था। मै भी वही था। स्वयसेवको के प्रतिनिधियो ने हमसे कहा कि हम तो बापू को वहा नही जाने देगे। बापू की मोटर के सामने लेट जायगे। हम चिन्तित हो उठे। आखिर यह समझौता हुआ कि स्वयसेवको का एक डेपुटेशन सुबह बापूजी से मिले। उन्हे उन भाई के बारे मे जो कुछ शिकायतें हो बापू से कह दे। उन्हे सुन लेने पर बापू यदि जाना उचित समझे तो भले ही जाय। वे समझते थे कि बापू अधेरे मे न रहे। हमने निश्चिन्तता की सास ली।

रात के कोई २।।-३ बजे होगे। इस समय मेरी नींद अक्सर खुल जाया करती है। उस दिन भी खुली तो बापू के कमरे में तेज बत्ती की

रोशनी दिखाई दी। मैंने सहज उत्सुकता से दरवाजे मे झाका तो बापू बैठे हुए कुछ लिख रहे थे। मै दग रह गया। इधर मेरे मुह से निकल गया, "बापू, यह क्या ?" उधर उन्होंने पूछा—"क्या तुम भी जाग रहे थे ? कुछ कहना तो नही है ?"

मझे यो कुछ भी नही कहना था। पर बापू के पूछते ही मुझे स्वयसेवको के डेपुटेशन वाली बात याद आ गई। मेरे मन में एक बिजली-सी चमकी कि मै ही क्यो न बापू के सामने वे सब शिकायते रख दू। वे स्वयसेवक अपने रोष मे बढा-चढा कर बापू से कहेगे। मै उसी काम को ज्यादा अच्छी तरह से निबाह दूगा। अत मैंने आगा-पीछा न सोचकर बापू से कह दिया—"हा" कुछ बात कहनी है।" बापू ने कलम रख दी और कहा—"कहो, क्या कहना है ?"

स्वयसेवको ने उन भाई के खिलाफ जो कुछ हमसे कहा था, मैंने सक्षेप मे बापू के सामने रख दिया। बापू गम्भीर हो गए। बोले—"तुम कुछ जानते हो ?"

"हा बापू, सुनी तो मैंने भी ऐसी ही बाते है।"

"तो मै कल तुम्हारा मुकाबला उनसे कराऊगा।"

मुझे तो कुछ सूझ नही पडा। कह दिया—"अच्छी बात है।" अब मै मन मे सिटपिटाया कि अच्छे लेने के देने पडे। 'धर्म करते कर्म फूटे' वाली बात हो गई। वे मित्र आये और बापू ने मुझे बुलाया। उनसे कहा कि हरिभाऊ ने मुझसे आपके सबध मे ये ये बाते कही हैं। आपका क्या कहना है ?

उन्होने उन बातो से तो इन्कार कर दिया और मुझपर नाराज हुए। बोले—"आपको मुझपर शक था तो आपने मुझसे क्यो नही पूछा ? बिना मुझसे बातचीत किये आपका बापू से यह सब कहना कहा तक ठीक था ? सत्याग्रही का यही धर्म है ?"

मैं लज्जित हो गया। मैंने कहा—"आपकी बात बिलकुल ठीक है। मुझे आपसे ही बात करनी थी, परन्तु मैंने तो बापू से अपनी तरफ से कोई शिकायत नही की। दूसरे लोगो ने चिन्ताजनक अवस्था व

समस्या खडी कर दी थी। उसके निवारण के लिए मैंने बापू से यह सब कहा। इसमें मेरा उद्देश्य आपके प्रति बुरा नही था। बल्कि एक भयकर रूप से उपस्थित होनेवाली कुपरिस्थिति को बचाना था। फिर भी इस दोष के लिए क्षमा मागता हू।"

तब बापू ने उनसे कहा—"अच्छा, तो इस सम्बन्ध मे पहले आप व हरिभाऊ बात-चीत कर ले, फिर मुझसे मिलें।"

हमने अपनी बातचीत की जो रिपोर्ट बापू को सुनाई, उसपर बापू ने उन मित्र के खिलाफ फैसला नही दिया। उन्होंने मुझसे कहा, "जबतक ये शिकायतें सच साबित नही हो जाती तबतक मुझे इन्हें निर्दोष ही मानना होगा। और जबतक मै इन्हें निर्दोष मानता हू तबतक इनके यहा जाना मेरा कर्त्तव्य है। मै ऐसा न करू तो अपने धर्म से चूकूगा।"

फिर रात को मुझे बुलाकर कहने लगे—"देखो हरिभाऊ, इस विषय मे छान-बीन करके तुम अपनी एक राय बना लो। इस तरह बिना सोचे-समझे किसीके लिए कुछ कहना ठीक नही है। इससे या तो उस व्यक्ति के प्रति अन्याय होता है या फिर प्रमाणाभाव में हम सच्चे होते हुए भी झूठे दीखने लगते है। फिर ऐसी बाते झूठ-मूठ भी उठा करती है। तिल का ताड भी बना दिया जाता है। ऐसे समय एक बार तो अपनी आखो को भी धोखा हो सकता है।" यह कहकर उन्होंने आप-बीती सुनाई। उसी दिन उनके पास एक पर्चा शायद किसी इटेलियन का आया था जो उसने बापू को अपने एक पत्र के साथ भेजा था। पर्चे में लिखा था कि हिन्दुस्तान में दो स्काउड्रल (बदमाश) है। एक अलवर के महाराजा, दूसरा गाधी। साथ के पत्र में लिखा था—गाधीजी आप है तो पक्के 'स्काउन्ड्रल', पर है बडे सत्य-वादी और सत्यप्रेमी। अत मुझे विश्वास है कि मैंने आपके लिए अपने पर्चे में जो सत्य बात लिखी है उसकी अवश्य कद्र करेगे।

मै पढकर दग रह गया। बापूजी पर इतना भयकर व ऐसे भद्दे से इल्जाम ! दुनिया में ऐसे आदमी भी हो सकते है ?

मुझे स्तम्भित और अवाक देखकर बापू बोले—"इसने योही नही लिखा है। आखोदेखी रिपोर्ट के आधार पर लिखा है । तुम विश्वास करोगे ?"

अब तो मै सन्न रह गया। "बापू, आप क्या कहते हैं ? विश्वास करूं ? ससार में कोई भी इसपर विश्वास नही कर सकता । यह तो कोई राक्षस मालूम पडता है।"

"नही, ऐसी बात नही है। विलायत में मेरे खिलाफ जो प्रचार किया गया है उसका यह नमूना है। जब मै गोलमेज परिषद मे विलायत गया तो तत्कालीन वाइसराय विलिंग्डन ने, खासतौर पर, ऐसी बाते ठेठ सम्राट् तक पहुचाई थी। और लोगो ने बहुत बुरा प्रचार किया। मशा उनकी यह थी कि लोगो पर मेरा प्रभाव न पडे। गाधी, जिसे लोग महात्मा मानते हैं, वह ऐसा बदमाश आदमी है, यह वे इग्लैंड के लोगों व सम्राट को जचाना चाहते थे । कहा गया है कि आखोदेखी बातें है।

"और जानते हो, आखोदेखी क्या बात थी ?" "नही तो, मुझे तो कुछ भी पता नही है ।

उन्होने किस्सा कहना शुरू किया, "डाडी–कूच के समय हमारे डेरे मे एक तरफ स्वयसेवक और दूसरी तरफ कुटिया के आस-पास स्वयसेविकाए सोती थी। स्वयसेविकाओ को मै अपने आस-पास सुलाता था। ज्यो-ज्यो अफवाहे आने लगी कि मेरी गिरफ्तारी जल्द ही होनेवाली है, लोगो की सतर्कता बढती जाती थी। वे किसी भी क्षण, खासकर रात में गिरफ्तारी हो जाने की आशका करते थे। एक रोज रात को पुलिस गिरफ्तारी के लिए आई। आहट पाकर लडकिया जाग गई और रोने लगी। मैं अपनी गोदी मे एक का सिर रखकर तसल्ली दे रहा था। पुलिस अफसर ने सर्चलाइट से मुझे इस अवस्था में देखा। उसने बम्बई के गवर्नर तक को रिपोर्ट पहुचाई कि रात मे गाधी को हमने लडकियो के साथ इस तरह देखा। पुलिस अफसर अग्रेज था। गवर्नर भी अग्रेज। उन्होने इसका अनर्थ करके मेरे विरुद्ध खूब प्रचार

करवाया। इसलिए मैं कहता हू कि ऐसी बातो पर बिना छान-बीन किये राय बना लेना गलत है। किसी के बारे में अनुकूल राय जल्दी बना लेना एक बार अच्छा है, पर बुरी राय बनाने मे हमेशा सुस्ती करनी चाहिए।"

: ३८ :

बापू की विलक्षणता

१९४८ मे व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू हुआ था। प्रान्तो से चुने हुए सत्याग्रहियो की सूची बापू की मजूरी के लिए जाती थी। अजमेर प्रातीय काग्रेस कमेटी की ओर से मै सूची लेकर गया। मेरे नाम का जिक्र चला। बापू ने कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नही रहता, तुम्हे जेल नही जाना चाहिए।" मैने कहा—"बापू, मेरा स्वास्थ्य ऐसा तो जरूर है कि जेल जा सकू।" बापू इसपर कुछ बिगडे। त्यौरी चढाकर कहा—"आखिर तुम्हे जेल जाने का ऐसा मोह क्यो है?" मै जवाब दे नही पाया था कि कोई और बात निकल पडी। मैने बापू से कहा—"मुझे आपकी बात का जवाब देना है, सो कोई दूसरा समय दे तो अच्छा रहे।" बापू ने फिर जरा त्यौरी चढाकर कहा—"जवाब देना चाहते हो? जानते हो, (मुस्कराकर) मै सेनापति हू। सिपाही सेनापति को जवाब नही दे सकता। उसका काम आज्ञा मानना है। अच्छा, फिर मिल लेना।"

बापू के कमरे के बाहर निकलने पर महादेवभाई ने कहा—आजकल बापू डिक्टेटर की स्पिरिट मे है। आपका 'जवाब' देना शब्द उन्हे अच्छा नही लगा।

थोडी देर के बाद पूज्य बा ने कहा, "हरिभाऊ, आज बापू ने तुम्हें अपने साथ भोजन करने के लिए कहा है। बापू के पास ही बैठना।"

अब तो मुझे चिन्ता होने लगी। बापू अहिंसात्मक नश्तर लगाया करते थे। जब किसीको कोई कडी बात पिलानी होती तो पहले अपने

स्नेह, वात्सल्य से उसे नहला दिया करते थे। पास बैठना तो वात्सल्य का चिन्ह था, पर मैं समझ गया कि बापू मुझसे कुछ कठिन काम चाहते है। मैने अक्सर देखा था कि बापू को जब किसीसे कोई त्याग या कष्ट सहन कराना होता था तो पहले वे उसकी प्रशसा करते थे। 'यग इडिया' मे जब किसी व्यक्ति की प्रशसा बापू करते थे तो हम लोग आपस में मजाक मे कहा करते थे कि अब बापू इनसे कुछ बडा काम लेना चाहते है। अतएव मै किसी कठिन परीक्षा की तैयारी करके भोजन करने गया। बापू ने अपनी थाली मे से कुछ प्रसादी दी। अब तो मै मन मे बहुत डर गया। बापू ने धीरे-से बडे प्यार-भरे शब्दो में मुस्कराते हुए पूछा—"हा, तुम मुझे कुछ जवाब देना चाहते थे न ?" मैने कहा—"बापू, जवाब नही, सफाई देना चाहता था।"

"हा–हा, सफाई तो दे सकते हो।"

"बापू, आपने पूछा था कि तुम्हे जेल जाने का ऐसा मोह क्यो है? मा मोह की बात नही, पर भला जिस लडाई के आप सेनापति हो, उसमे आपके एक सिपाही की इच्छा नाम लिखाने की हो तो इसमे आश्चर्य क्यो होना चाहिए ? नाम न दे तो अलबत्ता उसके लिए लज्जा की बात होगी। मै आपका सिपाही तो हू ही। मेरी सेवाए आपके सिपुर्द है। अब आप आज्ञा दे कि मुझे जेल नही जाना है, बाहर रहना है तो मुझे यह शिरोधार्य है। सिपाही के नाते मै आपकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता। इसमे मेरी क्या गलती है ?"

"हा, सो तो ठीक है, तुम्हारा नाम तो मेरे पास पहले ही से लिखा पडा है। जब मैने आमरण उपवास करने वालो की सूची मागी थी उसमे तुम्हारा नाम आया था। मुझे याद है। तभी से तुम्हारा नाम सूची मे है। मगर बात यह है कि इस समय मै कुछ खास लोगो को, जिन्होने सत्याग्रह व अहिसा को समझ लिया है, प्रत्येक प्रान्त मे पीछे रखना चाहता हू, जिससे वे लडाई को गलत रास्ते न जाने दे। तुम तो कई बार जेल हो आए हो। फिर जब मै जरूरत समझूगा तो तुम जैसो को झोकते हुए थोडे ही हिचकनेवाला हू।"

एक बार दिल्ली मे मेरे पूज्य पिताजी के साथ हम लोग पूज्य बापू के दर्शनार्थ गये। वे शायद शिमला या सीमाप्रान्त से आय थे और डा० शौकत अन्सारी के बगले पर (राजपुर रोड) ठहरे थे। काम में बहुत व्यस्त थे। बाहर जाने की तैयारी चल रही थी। हमारे बहुत देर तक इन्तजार करने के बाद महादेवभाई ने भीतर बुलाया और बुलाते ही चेतावनी दी—"बापू आज बहुत थक गये हैं। ज्यादा बात मत करना।" महादेवभाई की यह चेतावनी मुझे अच्छी नही लगी, क्योकि मैं बापू से बिना काम न कभी मिलता था, न कोई चिट्ठी लिखता था। मिलने पर भी मिनटो मे काम की बाते कर लेता था। उस दिन तो मुझे कोई खास बात भी नही करनी थी। हा, जब-जब बापू दिल्ली आते, पिताजी जरूर उनसे मिलते। उन्हे मिलाने के लिए ही मै साथ आया था। बापू मेरी इस बात से वाकिफ थे, फिर पिताजी साथ थे। मैंने देखा कि महादेवभाई की सख्ती उन्हें भी अच्छी नही लगी। उनकी आखो मे कुछ सुर्खी हो आई, इतने ही मे पिताजी ने व मैंने उन्हे प्रणाम किया। मैंने कहा—"पिताजी आपको प्रणाम करने आये थे। बस, अब जाते है।" बापू ने दृढता के स्वर मे कहा—"नही–नही, अभी बैठो। महादेव ने तो अपना कर्तव्य किया है। मै कुछ इतना थका नही हू।"

"लेकिन हमे कोई खास बात भी तो नही करनी थी।" किन्तु फिर भी उन्होंने कुछ देर तक बिठाके थोडी बात-चीत के बाद ही जाने दिया। मुझे ऐसा लगा मानो बापू महादेवभाई की सख्ती का परिमार्जन कर रहे हो।

× × ×

इसी समय का एक दृश्य याद आ रहा है। बापू नीबू का पानी पी रहे थे। कोई दूसरा चम्मच प्यारेलालजी ने उस दिन उन्हे दे दिया, रोजमर्रा वाला नही था। सामान बाधने की जल्दी मे कही इधर-उधर रख दिया था। बापू पीछे पड गये—वही चम्मच लाओ, उसे दूसरी जगह रख ही कैसे दिया? मुझे यह याद नही पडता कि बाद में क्या

हुआ। बापू अपने जीवन व व्यवहार की छोटी-से-छोटी बात का भी कितना आग्रह रखते थे, इसका यह नमूना है। वे जीवन को नियम व अनुशासन-बद्ध बनाने मे विश्वास रखते थे। अपने सम्बन्ध की थोडी भी गफलत, सुस्ती, भूल को वे क्षम्य नही समझते थे। उदार व क्षमाशील भी ऐसे कि बडे-से-बडा कुसूर भी माफ कर देते और छोटी-छोटी बातो पर भी बडा जोर दिया करते।

एक बार एक अत्यन्त निकटवर्ती ने लिखा—बापू, मेरा मन सिगरेट पीने को बहुत होता है। मै मन को बहुत समझाता हू, किन्तु मानता नही। तो अब क्या करू ?

बापू उन्हे बहुत सयमी और समझदार आदमी मानते थे। उन्होने जवाब दिया—तुम सिगरेट जरूर पियो और कोई पूछे तो यह कहो कि बापू ने मुझे इजाजत दी है।

बापू ने देखा कि इतना सयमशील व्यक्ति यदि अपने मन से हार रहा है तो अवश्य बात उसके काबू के बाहर हो रही है। उसे छोड देना ही अच्छा है। यदि मेरे सकोचवश न पिये, या दूसरे उसको बुरा कहे तो अपने हवाले की प्रेरणा करके उलटा बल दिया। जहा साधारण आदमी के मन मे घृणा पैदा हो सकती थी वहा बापू की इस अनुकम्पा की कोई तुलना नही है।

इसी तरह एक बार एक शख्स ने सतति-नियमन के लिए कृत्रिम उपायो के अवलम्बन करने की अनुमति मागी। बापू को उनकी असहाय अवस्था पर दया आई और कहा—तुमसे नही रहा जाता है तो भले कृत्रिम उपाय काम मे लो, परन्तु यह समझो कि तुम अच्छा काम नही कर रहे हो। इससे किसी दिन तुम्हे उससे छूटने की शक्ति मिल जायगी।

: ३६ :

प्रज्ञावान बापू

लाहौर कांग्रेस के बाद नमक-कानून-भग के रूप मे सत्याग्रह का आयोजन हो रहा था। उसपर विचार करने के लिए साबरमती या अहमदाबाद मे शायद कांग्रेस महासमिति की मीटिंग होनेवाली थी। उसमे सम्मिलित होने के लिए पण्डित मोतीलालजी नेहरू अहमदाबाद जा रहे थे। अजमेर स्टेशन पर हम कुछ कांग्रेस-कार्यकर्त्ता उनसे मिले। नमक-सत्याग्रह की बात चल पडी। हम लोग कुछ कल्पना नही कर सके थे कि नमक-कानून तोडा किस तरह जायगा। बापूजी ने उसकी कोई तफसील नही बताई थी। हमने पण्डितजी से पूछा। उन्होने कहा—"गाधीजी की सनक है। हमारी तो खाक समझ मे नही आता कि नमक-कानून कैसे तोडेंगे और उसका सरकार पर कितना दबाव पडेगा। कही टाय-टाय फिस न हो जाय! पर भाई, गाधीजी है। उनका कुछ कह नही सकते। नई-नई बातें निकालते है और जादू-सा कर दिखाते है। उनसे मिलने पर ही सब बाते मालूम हो सकती है।"

साबरमती जाकर हम क्या देखते है कि पण्डितजी नमक-कानून-सत्याग्रह के कायल हो गये और उसके पक्ष मे लोगो को समझा रहे है। गाधीजी का कायदा था कि जब कोई बात उन्हे सूझती थी तो पहले वे अपने दिमाग मे उसका खाका खीच लेते थे। यह खाका भी कई दिनो के मथन के बाद ऐन वक्त पर अच्छा खिचता था। तब वे अपने निकटवर्तियो के सामने उसका चित्र रखते, उनकी आलोचना सुनते, शकाओ का समाधान करते और अन्त को अकेले पड जाने की जोखिम

उठाकर भी उसपर डटे रहते। नमक-कानून-भग की सफलता का उतना चित्र शुरू मे लोगो के दिमाग मे नही बैठा था, जितना बाद में दिखाई दिया। लोग कहने लगे थे कि गाधीजी के छठी इन्द्रिय है, जो कठिन-से-कठिन परिस्थिति मे उन्हे अचूक उपाय सुझाती है। एकाग्रता व तन्मयता का खूब अभ्यास हो जाने से ऐसी स्फूर्ति उदय होती रहती है। प्राचीन ऋषि-मुनियो के लिए कहा जाता है कि जब कोई कठिन समस्या पेश आती थी तो वे ध्यान करते थे और सारा रहस्य उनकी समझ में आ जाता था या उसका हल मिल जाता था। हजरत मुहम्मद पैगम्बर के लिए भी यही कहते हैं कि जब कोई नया मसला पैदा होता था व सामान्य बुद्धि से वे उसे हल नही कर पाते थे तो बेहोश हो जाते थे, वही आती थी और वे उसका जवाब देते जाते थे। मन की एकाग्रता, ध्यान-चिन्तन की पराकाष्ठा के फलस्वरूप प्राप्त समाधि की ही यह एक अवस्था है, जो यान्त्रिक नही, प्रज्ञा का एक रूप या अग है। गाधीजी को यह सहज साध्य हो गई थी।

: ४० :

परदुःखकातरता

छोटी-बडी गलतिया सबसे होती है। दूसरे लोग गलतियो पर फटकार बताते है, सजा देते है, गाधीजी दया व प्यार की वृष्टि कर उसे शुद्ध करते थे। जिसने हृदय खोलकर उनसे सबकुछ कह दिया उसके रक्षक व पथदर्शक बन जाते थे। यदि हम भूल या दोष से दब जाते हो, हिम्मत टूटती हो तो खुद अपनी गलतियो का हवाला देकर ढाढस बधाते।

एक बार सावली (चादा जिला, मध्यप्रदेश) मे गाधी-सेवा-सघ का पहला सम्मेलन हुआ। सभा की कार्रवाई चल रही थी। बापूजी ब्रह्मचर्य, सयम या चरित्र-शुद्धता पर कुछ कह रहे थे। एक मदरासी

सज्जन उठे व एकाएक कहने लगे, "बापूजी, मै पापी हू, मैंने बडा दोष किया है।" शायद अपने दोष का कुछ बयान भी करना चाहते थे। बापू उनके सहसा हृदयोद्गार से इतने द्रवित हुए कि उन्हें शात करके बोले—मानो बरबस उनके मुह से निकला—"भाई, बैठ जाओ, तुम ही नही, हम सब पापी है।" उस समय उनका गला मानो करुणा से भर आया हो। बात यह थी कि उन भाई ने ब्रह्मचर्य का व्रत धारण किया था और वह टूट गया था—या तो वर्धा मे या शायद खुद सावली में ही। इसकी वेदना से वह व्याकुल हो उठे थे, लेकिन बापू ने उतनी ही दयार्द्रता मे उन्हे छाती से लगा लिया।

: ४१ :

जीत में हार

१९२८-२९ मे हम लोगों ने अजमेर मे काग्रेस का चुनाव लडा। काग्रेसियो मे आपस मे ही चुनाव हुआ। मतदाता के लिए खादी पहनने की शर्त थी। दोनो दलो के मिलाकर १४,००० सदस्य बने। इतने खादीधारी तो थे नही। हमारे प्रतिपक्षियो ने तो थोडे से कपडे बनवा लिये व बारी-बारी से पहनाकर वोट दिलाने लगे। उनकी यह चालाकी पकडी गई। चुनाव रद्द हुआ। मैंने बापूजी को इसकी सूचना दी। बापूजी ने फौरन मुझसे पूछा—"तुम्हारे पक्षवालो ने तो कोई गलती नही की है?" मेरे साथी कुछ घबरा गए, क्योंकि ऐसी खबर लगी थी कि बावजूद हमारी कोशिश के कुछ लोगो ने कुछ अनियमितता कर डाली थी। सवाल हुआ कि बापू को क्या जवाब दिया जाय? मैंने कहा, जो जैसी बात हुई हो, बापू को लिख दी जाय। जहा तक मुझे याद है, अनियमितता तत्कालीन काग्रेस के विधान या परिपाटी के अनुसार तो नही थी, पर बापू के मान-दण्ड मे वह अनुचित ही हो सकती थी। मैंने उत्तर दिया—आपके स्टैंडर्ड से हम

लोग भी अवश्य कुछ दोषी है, काग्रेस के स्टैंडर्ड से नही गिर रहे हैं। कई लोग नए हैं जो कभी काग्रेस की रीति-नीति से भी वाकिफ नही है, फिर आपके उच्च आदर्श की तो बात ही दूर है, परन्तु हमारा सच्चे दिल से यही प्रयत्न है कि आपकी परीक्षा में पास हो।" हम दिल मे घबरा जरूर गए थे। बापू ने हमारी कठिनाई व परेशानी को समझ लिया। हमें लिखा--चिन्ता करने की जरूरत नही, सच्चे दिल से शुद्धि का प्रयत्न करते रहो।

अन्त मे काग्रेस कार्यसमिति ने हमारे पक्ष मे फैसला दिया--काग्रेस के नियम की दृष्टि से उसे नियमित ठहराया। जब रिटर्निंग आफीसर श्री किदवई साहब ने इसपर मुझे मुबारकबादी दी तो मैंने कहा—यह कानूनी विजय है, नैतिक नही। अत हम जीत जाने पर भी बधाई के पात्र नही है। हमारे पक्ष के स्टैंडर्ड का ऐसा असर किदवई साहब पर पडा था कि हमारे खिलाफ जो शिकायतें हमारे प्रतिपक्षी उन्हे भेजते थे, वे मुझे जाच के लिए भेज देते थे।

: ४२ :

सच्ची नसीहत

अजमेर मे एक बार हमने खादी व ग्रामोद्योग प्रदर्शिनी की। उस सिलसिले मे किले की एक बुर्ज पर ऊचा राष्ट्रीय झडा फहराया। श्रद्धेय जमनालालजी के हाथो उसका उद्घाटन हुआ। तत्कालीन चीफ कमिश्नर या कमिश्नर का आर्डर मंत्रियो—(सर्व श्री कृष्णगोपाल गर्ग व बालकृष्ण गर्ग) के नाम आया कि दो घटे के अन्दर झडा उखाड लो, नही तो कानूनी कार्रवाई की जायगी। उन दिनो सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित था व बापू का सख्त हुक्म था कि बिना उनकी इजाजत कोई कानून न तोडे। अब हम बडे पेसोपेश मे पड गए। दो घटे के अन्दर बापू से सम्पर्क करके उनसे इजाजत नही ली जा सकती, इधर ऐसे

अपमानजनक हुक्म को मानने के लिए कोई तैयार नही था। मानने से मानो आत्मघात होना था, अजमेर-मेरवाडा की जनता की जागृति पर ठडा पानी डाल देना था। इस धर्म-सकट मे हमने एक कसौटी अपने सामने रक्खी। कोई भी निर्णय हम करते है तो एक न-एक तरह की गलती होती है। हमें वह फैसला करना चाहिए—वह गलती करनी चाहिए, जो हमे बहादुरी की तरफ—कष्ट-सहन की तरफ ले जाती हो, न कि वह जो हमे बुजदिली के गड्ढे मे गिराती हो। हमारे मत्रियो ने झडा उतारने से इन्कार कर दिया। फल-स्वरूप ४-४ महीने कडी कैद पाई व जेल मे भी काफी कष्ट सहा।

अब सवाल हुआ कि बापू क्या कहेगे ? मैने बापू को पत्र लिखा कि सिपाही के नाते हम लोगो को आपसे बिना पूछे सत्याग्रह नही करना चाहिए था, परन्तु जो परिस्थिति यहा थी—वह उन्हे सविस्तर लिख दी गई। उसमें बहादुरी की तरफ गलती करना ही हमने उचित समझा। अब आपके फैसले की राह देख रहे है।

बापू ने इसका जवाब तो उस समय कुछ न दिया, अलबत्ते 'हरिजन' मे हमारे पक्ष को पुष्ट किया। फिर जब मै मिला तो पूछा—"बापू, आपने हमारे प्रश्न का उत्तर नही दिया ! हमने गलती की या ठीक किया ?" उन्होने कहा—मेरी समझ से तो तुम लोगो ने अनुशासन का भग किया है, परन्तु तुम्हारी मजबूरी को मैने समझ लिया। गलती तुमने सही दिशा मे की है, इसलिए मैने अपने ढग से 'हरिजन' मे तुम लोगो के हाथ मजबूत किये है। जवाब इसलिए नही दिया कि तुम लोगो के खिलाफ उसका दुरुपयोग हो सकता था।

× × ×

एक बार आश्रमवासी मेरे एक मित्र की लडकी से एक मित्र के विवाह करने की इच्छा हुई। वे जानना चाहते थे कि लडकी भी चाहती है या नही। लडकी बालिग थी। मुझे इसमे कुछ हर्ज नही मालूम हुआ और मैने लडकी से पूछ लिया। जब उसके अभिभावको को यह बात मालूम हुई—मुझे तो कुछ छिपाना भी नही था—तो उन्हे एतराज हुआ

कि हरिभाऊ ने बिना हमारी इजाजत के क्यो बातचीत की । वे इस सबध को बिलकुल नापसन्द करते थे । बापू ने मुझसे पूछा तो मैने सरल भाव से बता दिया कि घर की लडकी-सी समझता हू, सो पूछ लिया । बापू को भी यह ठीक नही लगा । उन्होने पूछा—यदि शकुन्तला (मेरी लडकी) से कोई इस तरह तुमसे बिना पूछे ऐसी बातचीत करे तो तुमको पसन्द होगा ?

"जैसी आत्मीयता मै इस लडकी के पालको से रखता हू वैसा ही कोई व्यक्ति पूछे तो मुझे कोई आपत्ति न होगी, क्योकि उसमे दुर्भावना या सन्देह का कोई कारण नही हो सकता ।"

"तो मै कहता हू, तुम पिता होने के नाते शकुन्तला के प्रति अपने कर्तव्य से च्युत होते हो और इस भ्रम मे तुमने इस लडकी से बातचीत करके · का अपराध ही किया है । तुम्हे उनसे क्षमा मागनी चाहिए । · को काफी दुःख हुआ है ।"

"मुझे यह कल्पना नही थी कि इसमे उन्हे एतराज होगा और दुःख होगा । यह तो स्वप्न मे भी मुझे नही सूझा था । मै तो उलटा यह समझता था कि ऐसे मामला मे माता-पिता या पालक सीधे बात नही करते, मुझ जैसे मित्रो से ही पुछवाते ह, अत. मुझे इसमे कोई आशका नही हुई थी । अब यदि उन्हे दुःख हुआ तो मेरा धर्म है कि उनका दुःख जिस तरह दूर हो वह करू । केवल माफी ही नही, वे और भी कुछ चाहे तो करने मे मुझे दिक्कत न होगी ।"

"सो तो मै जानता हू, तुम्हारा कोई दुर्भाव होता तो मै दूसरी तरह से पेश आता । कई बार सद्भावना से भी हम ऐसे काम कर जाते है, जिनपर आपत्ति हो सकती है, अपने प्रियजनो को दुःख पहुच सकता है । अतः मनुष्य को बहुत सावधानी से बरतना चाहिए । जैसा हम अपने साथ चाहते है वैसा ही व्यवहार हम दूसरो के साथ करे—यह नियम सामान्यत ठीक है, परन्तु सच्चा नियम यह है कि हम दूसरो से आजादी से कम ले और दूसरो को अपने मे ज्यादा आजादी लेने देने की प्रवृत्ति रक्खे । अच्छा जाओ · से बातचीत करो ।"

मैने उनसे माफी मागी। वे सकुचा गए। बोले—जैसा बापू ने समझा है, ऐसा कुछ मुझे नही लगा है। तुम्हारे बातचीत करने पर मुझे इतना नही लगा जितना इस सबध को मै नापसन्द करता हू। तुम्हारी बातचीत से मुझे व्यर्थ की परेशानी हो गई। मुझसे तुम पहले बात करते तो मैं तुम्हे सारी परिस्थिति बता देता। खैर !

मैने इससे यह सबक लिया कि केवल अपनी ही दृष्टि से सोच लेना काफी नही है, सामनेवाले को इसमे क्या आपत्ति हो सकती है, उसपर क्या असर पड सकता है, फिर वह हमारा आत्मीय ही क्यो न हो, यह सोच लेना भी जरूरी है। जो मनुष्य अपनी मर्यादाओ को समझकर चलता है, वह खुद भी शाति पाता है व दूसरो को भी अशाति से बचा लेता है।

: ४३ :

संयम की शिक्षा

बापू स्त्री-जाति के आधुनिक शकराचार्य ही हुए हैं। उन्होने बहनो को निर्भय, तेजस्वी, अग्रसर, सेवा-परायण बनाने का जितना प्रयत्न किया है उतना शायद ही किसी पुरुष ने अबतक किया हो। जब वे बहनो के विषय मे बोलते थे तो ऐसा लगता था मानो किसी स्त्री की ही व्याकुल आत्मा बोल रही है। वे स्त्रियों के साथ स्त्रीत्व का अनुभव करते थे ऐसा कहे तो अत्युक्ति नहीं। धीरे-धीरे उन्होने भारत की स्त्रियो को पुरुष के समकक्ष ही नही, आगे बढा दिया। सामाजिक क्षेत्र में केवल विघवा-विवाह ही नही, परित्यक्ता-विवाह, असवर्ण-विवाह आदि का भी रास्ता खोल दिया व चौडी सडके बना दी। बाल-विध-वाओ के लिए तो उन्होने यहा तक कह दिया कि ये तो कुवारी ही है। इनका विवाह तो पहला विवाह समझकर ही करना चाहिए। विवा-हिताओ को भी उन्होने पुर्नविवाह की अनुमति दे दी है—ऐसी एक घटना याद आ रही है।

१९२७ की बात है। राजस्थान के एक सम्भ्रान्त परिवार की वधू ने पहले पति को छोडकर दूसरे से शादी कर ली। पहले पतिवालो ने बापूजी से शिकायत की या शायद लडकी ने ही बापू से दाद फरियाद की थी। बापूजी ने जाच का काम मुझे सौपा। मुख्य मुद्दे बापू ने ये बताये कि लडकी क्यो दूसरा विवाह करने पर उतारू हुई और कि आया उसने अपनी मर्जी से शादी की है? दोनो पक्ष के लोगो से सारा किस्सा सुनकर मैंने पूर्व पति को समझाया कि इस लडकी को वापस बुलाने मे कोई सार नही है। दोनो में से किसीको भी शाति नही मिल सकती। मुझे जहातक याद है वह लडकी दूसरे पति के ही यहा रहने गई थी। बापू मानते थे कि यदि स्त्री पर अत्याचार होते रहते है या वह छोड दी जाती है तो उसे दूसरा विवाह करने का अधिकार होना चाहिए और पुरुषो को मुकदमा चलने व जेलखाने की जोखिम उठाकर भी ऐसी स्त्रियो से विवाह कर लेना चाहिए। वे सयम और ब्रह्मचर्य के पुजारी थे, परन्तु साथ ही अत्याचार और जिल्लत की जिदगी को भी कभी बरदाश्त नही करते थे। विवाहित जीवन मे भी वे सयम व ब्रह्मचर्य पर जोर देते थे। वे कहते थे कि जो जितनी अधिक स्वतत्रता चाहता है उसे उतना ही अधिक सयमी होना चाहिए। वास्तव मे सयम ही मनुष्य को स्वतत्रता देता है, असयम से वह उसका अधिकार खोता जाता है।

: ४४ :

रुपये का सद्व्यय

एक बार एक धनी व्यक्ति ने बातचीत मे बापू को बताया कि वे सरकार से इनकम-टैक्स बचा लेते है। वह अग्रेजी शासन का जमाना था। कई हजार रुपए बचे थे। बापू सुनकर कुछ देर चुप हो रहे। उनकी मुख-मुद्रा से ऐसा लगा, मानो उन्हे यह पसद नही आया। उन

सज्जन से शायद उन्होने ऐसी आशा न रखी हो। परन्तु सज्जन ने साफ दिल से बापू से कह दिया था, अत उनकी रक्षा करना भी उन्हें शायद जरूरी मालूम हुआ। उन्होने कहा—"तो फिर ऐसा करो कि यह रुपया अच्छे काम में लगा दो।" उन्होनें फौरन मजूर कर लिया।

: ४५ :

सरल-सादे आचार्य राय

एक दफा वर्धा मे आचार्य राय बापू से मिलने आये। वे एक साधु-सन्त कोटि के पुरुष थे। उनके त्याग की सीमा नही थी। विज्ञान के खासकर रसायन-शास्त्र के पीछे उन्होने विवाह तक नही किया। कहते थे—"मैंने कैमिस्ट्री से शादी करली है। अब दो पत्नियो को नही रख सकता।" सरलता बच्चे के माफिक, सादगी मजदूरो को भी मात करती थी। एक बार मै कलकत्ते मे उनके दर्शन के लिए गया तो वे साइन्स युनिवर्सिटी के विशाल भवन के एक पिछले कोनेवाले कमरे मे मामूली खटिया पर बैठे थे। यदि पास मे नारियल—हुक्का—पडा हुआ होता तो कोई उन्हे मछुआ ही समझता। बापू की सादगी मे फिर भी एक शान रहती थी, परन्तु आचार्य राय ठेठ देहाती मालूम होते थे। सरोजनीदेवी मिलने आई तो इस तरह लिपट गये जैसे बच्चा मा से लिपट जाता है। श्री बसन्तकुमार मजूमदार सपत्नीक आये तो दोनो को एक-एक चाटा रसीद किया, दोनो के सिर आपस मे टकरा दिये और दोनो के कन्धो पर चढ बैठे। फिर हम सबको अपनी रसायनशाला दिखाने ले गये—उसमे जर्मनी, इगलैड आदि से लौटे उनके बडे-बडे वैज्ञानिक शिष्य काम कर रहे थे। एक-एक चपत लगाकर व किसीको चूमकर बडे गौरव और वात्सल्य के साथ उनका परिचय कराते जाते थे। कहा—"These are my chemical babies"—(ये मेरे रासायनिक या रसायनशास्त्रीय बच्चे हैं)।

जब बापू से वर्धा मे मिलने आये तो मामूली-सा बिस्तरा और एक थैला साथ था। सुबह आते ही बापू के कमरे में दाखिल हुए। बापूजी को वे महत्ताजी (महात्मा का बगाली अपभ्रंश) कहकर सबोधन किया करते थे। बातचीत खत्म होने के बाद उन्होने मुझसे चाक मिट्टी मागी। मुझे ताज्जुब हुआ कि चाक मिट्टी का क्या करेगे ? मैंने पूछा, "स्कूल का 'चाक' चलेगा ?" उन्होने कहा—"हा-हा, जरूर।"

मै अपनी जिज्ञासा रोक न सका। पूछा—"चाक का आप क्या करेगे ?"

"मै चाक मिट्टी से ही दातुन करता हू। यही मेरा मजन है।"

"आप तो बगाल कैमिकल के जनक हैं। उसका दन्त-मजन ही काम मे क्यो नही लाते है ?"

मेरे मुह की ओर कौतुकपूर्ण आखो से देखते हुए उन्होने कहा—"सो तो ठगविद्या है। वह सब व्यापार है। असली चीज यही चाक मिट्टी है। दात इसीसे साफ होता है। पैसा कमाने के लिए दन्त-मजन में थोडी खुशबू व कुछ एटिसेप्टिक (कृमिनाशक) मिला देते हैं। मै तो चाक मिट्टी से दात माजता हू।"

मैने आनद, आश्चर्य व आदर के साथ उन्हे मन-ही-मन प्रणाम किया।

: ४६ :

मेरी अहिंसा की कमी

बापू ने मुसलमानो का हृदय जीतने के लिए जितने प्रयास किये उतने अग्रेजो का हृदय जीतने के लिए नही। अग्रेजी साम्राज्य की जड उन्होने हिला दी, फिर भी अग्रेज उनको मानते व कद्र करते थे। मुसलमानो के लिए उन्होने जान की बाजी लगा दी तब भी—आखीर के कुछ दिनो को छोडकर—लीगी मुसलमान उन्हे अपना दुश्मन न० १

मानते थे। मैंने इस स्थिति पर कई बार मन में विचार किया। बापू की अहिसा-साधना मे कसर है या लोगो मुसलमान ही इतने जड हैं ? मुझे ऐसा लगा कि बापू जिस भाषा मे अपना प्रेम और सद्भाव उनपर प्रकट करते थे उसे वे समझ नही पाते थे। बापू अपने दृष्टि-बिन्दु पर अपने ढग से उन्हे लाना चाहते थे, जबकि वे अपने दृष्टि-बिन्दु की पूर्ति में बापू से अपने ढग से सहयोग चाहते थे। इससे बापू की हालत—मुर्गी अपनी जान से गई, पर मिया के मन ही न भाई—जैसी हो रही थी। मुझे ऐसा लगा कि बापू को यदि प्रेम व सद्भावना ही दर्शाना है तो वह उन्हीकी भाषा में, उन्हीके ढग से जिसे वे समझ सकें, क्यो न दर्शावे। प्रेम-पात्र जिस भाषा को समझे वह बोलना अच्छा है या हमारी भाषा, हमारा ढग प्रेम-पात्र पर लादना अच्छा है। प्रेम-प्रदर्शन का सच्चा व सरल तरीका क्या है ? प्रेम-पात्र की भावनाओ का व सुविधाओ का ज्यादा खयाल रक्खे या अपना ? मैंने बापू को लिखा—मुझे आश्चर्य होता है कि मुसलमान क्यो नही अबतक आपपर विश्वास लाते हैं। ज्यो-ज्यो आप उनके लिए छटपटाते हैं त्यो त्यो वे और छिटकते तथा शकित होते जाते है। आपके प्रेम व सद्भावना में तो कोई कसर नही मालूम होती, परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि उसके प्रकाशन के प्रकार या ढग मे कोई भूल आपसे हो रही है। आप अपनी भाषा छोडकर जो भाषा उनकी समझ में आती हो वैसी बोले तो क्या हर्ज है ?

उन्होने उत्तर दिया—यह मेरी अहिंसा की साधना की कमी को बतलाता है। उनकी भाषा में बोलने का मतलब यह हुआ कि उनकी मागे मजूर कर लू। उनके जिस सिद्धान्त को मै दूषित व हानिकर मानता हू उसे कैसे मजूर कर सकता हू ? मुझमे अभी और आग चाहिए, जिससे उनके हृदय पिघल सकें।

अन्त को जाकर उनके बलिदान ने यह अधूरा काम पूरा कर दिया।

: ४७ :

सेठ जमनालालजी

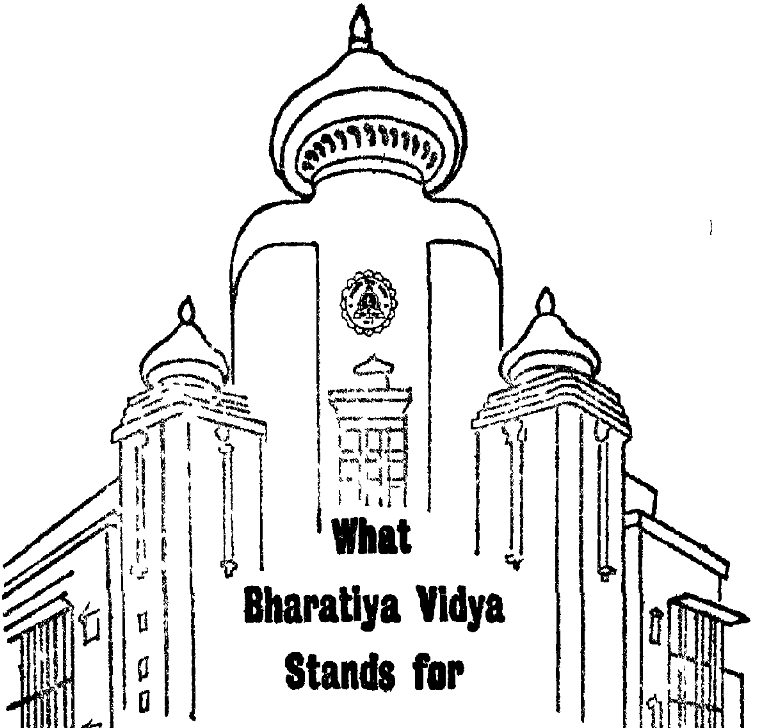
जमनालालजी कुछ विश्वासो में अपनी बात के पक्के थे—कुछ सस्कार इतने प्रबल थे कि वे बापू की भी नही सुनते थे। उनमे भिड पडते थे। उन्होने एक नियम-सा कर रखा था कि दान या सहायता उसी सस्था को या व्यक्ति को देनी चाहिए जिसका काम खुद हमने देखा हो, जिसका सिद्धान्त, राजनीति हमें पसन्द हो। जो लोग बिना खोज-पूछ व सोच-विचार किये मुह देखकर तिलक लगाते है उनकी वे हमेशा आलोचना किया करते थे व अपने मित्रो तथा साथियो के पात्रापात्र का विचार करके दान देने की शिक्षा दिया करते थे। इससे कभी-कभी ऐसा हो जाता था कि सहायता समय पर नही मिल पाती थी, जिससे कभी काम बिगड जाता था, कभी कार्यकर्त्ता हताश हो जाते थे। एक बार शायद नागपुर के या पूना के तिलक-विद्यालय की सहायता का सवाल दरपेश था। वहा के कार्यकर्त्ता जमनालालजी से मिल चुके थे और उन्होने शायद यह जवाब दिया था कि मैं सस्था देखकर या अधिक चर्चा करके फिर निश्चय करूगा। उन्हे पैसे की बहुत तगी थी। वे बापूजी के पास पहुचे। बापू को ऐसा लगा कि सहायता तुरन्त मिलनी चाहिए।

वर्धा मे प्रात काल घूमते हुए बापू ने जमनालालजी से जिक्र किया। छूटते ही सेठजी उबल पडे—"आपको लोग समझा देते है और आप झट से उनकी बाते मान लेते हैं। वे लोग पहले मुझसे मिले थे। मैंने कहा था कि ठहरकर कुछ कर सकूगा। उन्हे आपको सताने की क्या जरूरत थी ?"

बापू (अपने उद्वेग को दबाते हुए)—"हा, सो तो ठीक है, लेकिन आपके निश्चय करने तक तो उनका काम चौपट हो जायगा। हमे कार्यकर्त्ताओ की सुविधा और कठिनाइयो का ज्यादा खयाल रखना चाहिए, बनिस्बत अपनी जाच-पडताल के। कार्यकर्त्ता यदि ईमानदार है तो फिर हर समय ज्यादा सख्ती से नुकसान होता है।"

सेठजी (झल्लाकर)—"लेकिन मै अपना तरीका नही बदल सकता। आपकी बात दूसरी है। आपके जितनी शक्ति मुझमे नही। मै आपकी चाल चलने लगू तो 'कौवा चले हस की चाल' वाली गत होगी।"

उन्होने बापू को सूखा-सा जवाब दे तो दिया, पर पीछे से, मुझे जहा तक याद पडता है, कुछ रुपये भिजवा दिये थे। सेठजी जितने ऊपर से सख्त थे भीतर से उतने ही दयार्द्र थे।



What Bharatiya Vidya Stands for

Bharatiya Shiksha must ensure that no promising young Indian of character having faith in Bharat and her culture Bharatiya Vidya should be left without modern educational equipment by reason merely of want of funds

2 Bharatiya Shiksha must be formative more than informative, and cannot have for its end mere acquisition of knowledge Its legitimate sphere is not only to develop natural talents but so to shape them as to enable them to absorb and express the permanent values of Bharatiya Vidya

3 Bharatiya Shiksha must take into account not only the full growth of a student s personality but the totality of his relations and lead him to the highest self-fulfilment of which he is capable

4 Bharatiya Shiksha must involve at some stage or other an intensive study of Sanskrit or Sanskritic languages and their literature, without excluding if so desired the study of other languages and literature ancient and modern.

5 The re-integration of Bharatiya Vidya, which is the primary object of Bharatiya Shiksha, can only be attained through a study of forces, movements, motives, ideas, forms and art of creative life-energy through which it has expressed itself in different ages as a single continuous process

6 Bharatiya Shiksha must stimulate the student's power of expression, both written and oral, at every stage in accordance with the highest ideals attained by the great literary masters in the intellectual and moral spheres

7 The technique of Bharatiya Shiksha must involve—

(a) the adoption by the teacher of the *Guru* attitude which consists in taking a personal interest in the student, inspiring and encouraging him to achieve distinction in his studies entering into his life with a view to form ideals and remove psychological obstacles, and creating in him a spirit of consecration, and

(b) the adoption by the student of the *Shishya* attitude by the development of—

(i) respect for the teacher,

(ii) a spirit of inquiry

(iii) a spirit of service towards the teacher, the institution Bharat and Bharatiya Vidya

8 The ultimate aim of Bharatiya Shiksha is to teach the younger generation to appreciate and live up to the permanent values of Bharatiya Vidya which flowing from the supreme art of creative life-energy as represented by Shri Ramachandra, Shri Krishna Vyasa, Buddha and Mahavira have expressed themselves in modern times in the life of Shri Ramakrishna Paramahamsa Swami Dayananda Saraswati and Swami Vivekananda, Shri Aurobindo and Mahatma Gandhi

9 Bharatiya Shiksha while equipping the student with every kind of scientific and technical training must teach the student, not to sacrifice an ancient form or attitude to an unreasoning passion for change, not to retain a form or attitude which in the light of modern times can be replaced by another form or attitude which is a truer and more effective expression of the spirit of Bharatiya Vidya, and to capture the spirit afresh for each generation to present it to the world

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।

Let noble thoughts come to us from every side

—Rigveda, I-89-

BHAVAN'S BOOK UNIVERSITY

General Editors

K M MUNSHI

R R DIWAKAR

BHAGAVAD-GITA

BY

C RAJAGOPALACHARI

BHAVAN'S BOOK UNIVERSITY

Organising Committee

BHAVAN'S BOOK UNIVERSITY

BHAGAVAD-GĪTA

By

C RAJAGOPALACHARI

1964

BHARATĪYA VIDYA BHAVAN

CHOWPATTY BOMBAY

By the kind permission of the Hindustan Times Ltd, New Delhi

Revised by the author in 1941 with the assistance of a Gita study group of fellow-prisoners in the Trichinopoly Central Jail

First Issued in this Series November 1963
Reprinted August 1964

Price Rs 2 50, Sh 4-6, $ 1 10
Rupee Price (outside India) Rs 3 00

PRINTED IN INDIA

By P H Raman at the Associated Advertisers & Printers 505 Tardeo Arthur Road Bombay 34 and Published by S Ramakrishnan, Executive Secretary, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay 7

GENERAL EDITOR'S PREFACE

THE Bharatiya Vidya Bhavan—that Institute of Indian Culture in Bombay—needed a Book University, a series of books which, if read, would serve the purpose of providing higher education. Particular emphasis, however, was to be put on such literature as revealed the deeper impulsions of India As a first step it was decided to bring out in English 100 books, 50 of which were to be taken in hand almost at once Each book was to contain from 200 to 250 pages and was to be priced at Rs 2 50

It is our intention to publish the books we select, not only in English, but also in the following Indian languages Hindi, Bengali Gujarati, Marathi, Tamil, Telugu Kannada and Malayalam

The scheme, involving the publication of 900 volumes requires ample funds and an all-India organisation The Bhavan is exerting its utmost to supply them

The objectives for which the Bhavan stands are the reintegration of the Indian culture in the light of modern knowledge and to suit our present-day needs and the resuscitation of its fundamental values in their pristine vigour

Let me make our goal more explicit

We seek the dignity of man, which necessarily implies the creation of social conditions which would allow him freedom to evolve along the

lines of his own temperament and capacities, we seek the harmony of individual efforts and social relations, not in any makeshift way, but within the frame-work of the Moral Order, we seek the creative art of life, by the alchemy of which human limitations are progressively transmuted so that man may become the instrument of God, and is able to see Him in all and all in Him

The world, we feel, is too much with us Nothing would uplift or inspire us so much as the beauty and aspiration such books can teach

In this series, therefore, the literature of India, ancient and modern, will be published in a form easily accessible to all Books in other literatures of the world, if they illustrate the principles we stand for, will also be included

This common pool of literature it is hoped, will enable the reader, eastern or western, to understand and appreciate currents of world thought, as also the movements of the mind in India, which though they flow through different linguistic channels have a common urge and aspiration

Fittingly, the Book University's first venture is the *Mahabharata*, summarised by one of the greatest living Indians, C Rajagopalachari, the second work is on a section of it, the *Gita*, by H V Divatia, an eminent jurist and a student

of philosophy Centuries ago, it was proclaimed of the *Mahabharata* "What is not in it, is nowhere" After twenty-five centuries we can use the same words about it He who knows it not, knows not the heights and depths of the soul, he misses the trials and tragedy and the beauty and grandeur of life

The *Mahabharata* is not a mere epic, it is a romance, telling the tale of heroic men and women and of some who were divine it is a whole literature in itself, containing a code of life, a philosophy of social and ethical relations, and speculative thought on human problems that is hard to rival, but, above all, it has for its core the *Gita* which is as the world is beginning to find out, the noblest of scriptures and the grandest of sagas in which the climax is reached in the wondrous Apocalypse in the Eleventh Canto

Through such books alone the harmonies underlying true culture, I am convinced, will one day reconcile the disorders of modern life

I thank all those who have helped to make this new branch of the Bhavan's activity successful

1, Queen Victoria Road,
New Delhi
3rd October, 1951

K M MUNSHI

PREFACE

IT is a matter for great regret that the young men and women of our Universities know very much less about the *Gita* and the principles of Hindu religion than the undergraduates of European Universities know about the Bible and the principles of the Christian faith We inherit in Hindu religion a body of thought which, in the opinion of those best fitted to judge, is the product of the highest efforts of intellect and imagination that ever were turned in that direction Young men and women of any Western nation, had they inherited our philosophy, would have been as proud of it as of an empire

This book has been written mainly to serve as a handbook for students Reading these pages, if they find any thought in the text or in the explanation not satisfying, or wanting in clarity, or such as evokes disagreement they should pursue the matter discussing it with fellow-students or consulting scholars No Indian can consider himself as having attained a liberal education if he has not a sound knowledge of the principles of the great religious philosophy for which India is famous throughout the civilized world

This little book is an attempt like what the father in the old story did with his sons, who were told to dig for treasure in the family garden The gold was indeed found, not as coined treasure hidden away in a pot but as the reward of toil, a plentiful crop which the garden yielded for the digging There is nothing in what the writer has himself written but if the readers are induced to dig, the *Gita*, our precious patrimony, will yield a rich harvest for the striving soul

Many suggestions were made after the issue of the first edition, to make subsequent issues more useful, for example that parallel quotations and *Upanishad* sources may be given, and that a bibliography may be added All these may be very useful, but I have not accepted these suggestions, as I intend that this book should continue to be a beginner's handbook, and I do not wish to aim at making it anything like a book for scholars

C R

INTRODUCTORY

THE *Gita* is one of the most authoritative sources of Hindu doctrine and ethics and is accepted as such by Hindus of all denominations A study of even selections from it, strengthened by earnest meditation, will enable young men and women to understand the religion of our fathers, which is the background of all the noble philosophy, art, literature and civilization that we have inherited

There are many excellent translations of the *Gita* in English and in the Indian spoken languages For scholars, the commentaries of Sri Sankaracharya and other great religious teachers are mines of knowledge before which any modern notes are but chaff The following pages are intended for students who have not the equipment and time for studying the original text with any of these great commentaries

The *Gita* is a chapter in the *Mahabharata* It begins by describing the agitation of Arjuna when he saw men arrayed on either side for mutual slaughter, and into this scene is fitted the exposition of Hindu *Dharma*, in terms of what Krishna spoke to Arjuna in order to quell his agitation and clear his doubts Krishna speaks throughout the *Gita* as God himself

In spite of what is stated in the previous paragraph, and the beauty and appropriateness of the background conceived by the bold unrivalled imagination of the ancient author, the student should note that the *Gita* as a scripture of Hinduism stands apart from the *Mahabharata* The context has rightly receded into insignificance and has practically disappeared in orthodox Hindu interpretation To take the battle of Kurukshetra literally and to interpret all that is said in the *Gita* in the light of the motive of the particular scene would not only not help the student to understand the *Gita* aright, but may even lead him to error It is true that the teachings in the *Gita* being of universal validity would also be applicable to the *Mahabharata* scene and must help to solve Arjuna's problems and doubts But we shall fail to understand the teaching aright if we are obsessed by the particular scene and seek to interpret the general by the particular It is a common practice in Sanskrit literature to provide great works with such or other prologues It would be a cumbersome process to convert the whole of the *Mahabharata* story into a sustained allegory in order to save the *Bhagavad-Gita* from being an incitement to violence We should forget the battle-scene when we study the *Gita* as a scripture of *Sanatana Dharma*

There are eighteen *adhyayas* in the *Gita* and seven hundred *slokas* in all In the following

pages 226 *slokas* are quoted A study of them is enough to give a fairly good grasp of the *Bhagavad-Gita*

The *Bhagavad-Gita* professes to give nothing new beyond what has previously been taught by the *Upanishads*. It contents itself with a synthesis of the older teachings This book does not propose to give any new interpretation of the *Bhagavad Gita* Let the reader not expect to find in the following pages any old interpretations controverted, any newly invented explanations This little book aims at a simplified presentation of the Gita content, and at bringing it within a small compass so as to enable the modern student to understand, in the midst of his other studies, the faith, discipline and ideals that lighted the path of life for our forefathers, and to which is given the name *Sanatana Dharma* or Hinduism

A little knowledge of the laws of nature and the wonders of science, specially when that knowledge is acquired second-hand, without the chastening influence of effort and investigation, acts as a wine on some natures Their sense of proportion is unset The unknown is not only unknown but ceases to exist for them Holy books and scriptures seem to them ancient folly, nay worse, they are looked upon as instruments and deliberate devices for the practice of fraud But those who have struggled to obtain a deeper

knowledge of the physical sciences and who, therefore, know enough to retain their sense of proportion and judgment know that the vast unknown is ever so much more than what is known and that while human intelligence may bring under its domain more and more as time goes on, there is a residue that cannot be either ignored or brought under the sway of man's intelligence. Men of science not only preserve their humility but, on account of their very knowledge of some of the secrets of nature, contemplate with increased humility and reverence that which must ever remain outside the pale of human analysis.

The cause of all causes, the law of all laws cannot be seized by the highest effort of human reasoning or investigation. Human reason is so perfectly fashioned and rounded off that there is no room for any sense of limitation. But the fact remains that the part cannot comprehend the whole, however excellent it may be shaped. The symbol of the serpent with the tail in its mouth as if swallowing itself illustrates the limitation of the human mind in its efforts to grasp the All. Even a giant cannot stand on a platform and lift it also. We cannot jump off the ultimate cause on which we stand and on which we depend for every motion of the mind, in order that we may get round it or measure it.

This limitation of human knowledge is a familiar boundary in scientific and philosophical investigations Dive into any truth or investigate any phenomenon or examine any distinction deep enough, and at a certain point we reach the unknowable and further progress is stopped We strike against God, so to say, in everything The Unknowable is all-pervading The known and knowable make up but a thin surface-crust over a mystery-sphere of infinite dimensions Religions and holy books, and the sayings and doings of holy men deal with this infinite unknown, not as science deals with matter, but in a different way which is also the only possible way

It may be asked why anyone should worry about the unknown Of what use is it? The answer is that to ignore the real is foolish The unknown is no less real because it is unknown We know this much about it, that it is there and has pro found relation to all that exists including ourselves How then can we ignore it? The gap in human perception, we know, is not a void but filled with the most important reality, although we cannot dive into it, analyse it or understand it

In the material world, does not the mathematician deal with quantities that are too great or too small for definition, and with expressions that are for the human understanding wholly unreal?

Infinity, zero and surds are not neglected in mathematics, but go greatly to make up a science which actually helps engineers and mechanics to build real and useful construction The insoluble and the infinite are thus neither unreal nor useless even for practical life What is said in the *Gita*, the *Upanishads* and other holy books of the world may often be not as precise or clear as we would want it to be The explanations are not as satisfying as the proofs we find in the physical sciences This is necessarily so because the matter is wholly different and the approach and methods of application also must differ Things within the domain of human reasoning can be defined and proved But for the understanding of things beyond, faith and meditation have to function The scriptures and holy books may be looked upon as helps to assist reverent meditation, by which alone the human mind can get glimpses into the truth beyond By cultivation of purity of mind and action and by meditation and prayer, what sounded first but as an empty jingle of antithetic phrases gets substance and meaning What was obscure gets a strange and new light by which we may see though dimly, and though, even that, we may not all be able to relate to others Thus it was our fathers saw, and thus again we may also see

A reverent spirit is necessary to understand any religion To start with a suspicion that the

founders and teachers of Religion in any land were skilful deceivers, interested in some scheme of self-advancement or the advantage of some particular class, and that the rest of the people were duped to regard these deceivers with unbounded reverence and affection, is foolish in the extreme The mass of the people of ancient days, from whom, indeed, we have inherited all the intellect we possess were as practical as we are were as interested in knowing the truth about men and things as we are, and were, if it may be so put, as suspicious as we are They had probably as much intellectual acumen as we have, and had indeed more time to examine men and things To believe that they were duped and that among them there were not men intelligent and bold enough to prevent the mischief is to proceed on a wholly wrong assumption The religions that have commanded the devotion of successive generations of normal human beings in any country have done so because by direct personal contact at first, and by experience handed down as tradition from one generation to another, the founders and teachers of the religions were known to their contemporaries to be good, sincere and deep-thinking men, worthy of being followed It is not merely wrong to display the detective-police mentality when studying a religion, it incapacitates one even to understand it Undoubtedly personal and class interests have

perverted religion as they have perverted other institutions But to confuse the later with the earlier and to impute fraud to the source is an unscientific attitude of mind in the investigation of truth The *Rishis* of our land, who have bequeathed to us great thoughts, were *Rishis* and no less It is in a spirit of reverent affection that we should approach the study of an ancient scripture

CONTENTS

CHAPTER I

THE SOUL

[Adhyaya II—Slokas 11-13, 17, 20, 22, 24, 25, and 30
Adhyaya XIII—Slokas 26, 32 and 33]

THE first step in religion is the realization of the existence of an entity behind the apparent body, *i e*, the Soul The visible body is not the whole reality There is in it an unseen but ever-active master of the house, the *Dehi* (देही) , the possessor of the body, whose existence we should realize before we can live the true life This entity, the Self, should not be confused with the intangible functions of the brain It is not mere Thought, Perception, Emotion, Will or Discriminative Intelligence These are all but functions of the physical body The Soul is an entity apart from and behind all these functions It is not seated in any particular part of the body but pervades the whole of it and all the senses, unaffected by the law of "extension" even as ether was taken by the physicists to pervade the whole of space and matter Not only man, but every animal and plant, every living thing, has a Soul The body is but the field of action, the *Kshetra*. in which resides the Soul, who is the *Kshetri*, or *Kshetrajna*

The Soul does not cease to exist when the body dies and is buried, burnt or eaten up by wild birds or beasts Grief over death is foolish, the Soul being incapable of death It is the body that is cast off in death even as we cast off old clothes

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

THE LORD SAID

You grieve for those who are not to be grieved for, yet you speak words of seeming wisdom The enlightened grieve neither for the living nor for the dead

II 11

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

At no time was I non-existent, nor thou, nor these chiefs of men, nor shall any of us ever cease to be hereafter

II-12

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

As the Soul dwelling in the body goes through childhood, youth and old age, so it moves on to another body, the wise are not disturbed in mind over it

II 13

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

Know that to be indestructible by which all these living beings here on earth are pervaded No one can work the destruction of that imperishable entity

II-17

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

The Soul is not born, nor does it die, nor having been, ceases at any time to be, unborn, unchanging, ever-abiding, primeval, it is not killed when the body is killed

II-20

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

Men cast off worn-out garments and put on new ones Even so the Soul casts off worn-out bodies, and enters into new bodies

II-22

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

It is uncleavable, it is incombustible, it cannot be drenched or dried up, it abides for

ever, all-pervasive, stable, immovable, primeval.

II-24

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

It is declared about it that it is unmanifest, incomprehensible and immutable Knowing it as such you should not grieve

II-25

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

The Soul that thus dwells in the body of everyone is ever-abiding and invulnerable It is not for you, therefore, to grieve for any creature

II-30

It is not as if men have souls and not beasts All living beings and plants also have souls

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

Whatsoever life is born, fixed or moving know that it comes to be from the union of body and Soul

XIII-26

Where is the Soul lodged? Is it in the head, or in the region of the heart or somewhere else? It is all-pervading and is not to be located in any particular part or organ of the body

यथा सर्वगत सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥

As the all-pervading ether is too subtle to be affected by anything it pervades, so abiding everywhere in the body the Self remains unaffected

XIII-32

यथा प्रकाशयत्येक कृत्स्न लोकमिम रवि ।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्न प्रकाशयति भारत ॥

As the one sun irradiates the whole earth, so the Soul irradiates the whole body

XIII-33

Chapter II

KARMA

[Adhyaya XV—Slokas 7-9 Adhyaya XIII—Slokas 19-21]

THE relationship of the individual Soul to the Supreme Spirit on the one hand and to the material body on the other is to be gathered from the verses taken up for study now The Supreme Spirit may be said to dwell within the individual Soul and to irradiate it as even the latter dwells within and illumines the material body We read in the previous chapter that the Soul successively takes various visible forms and "becomes" man, bird, beast or plant The Supreme Spirit may be said similarly to "become" or "transform" itself into numerous souls at the same time The individual Soul may also be looked upon as a fragment of the Universal Spirit, but the transcendental nature of the original is such that fragmentation does not affect its integrity Further attempts at exact definition of the relationship of the individual Soul to the Supreme Spirit will take us into the learned controversies of Dwaita Adwaita and Visishtadwaita philosophies *Bhagavad-Gita* does not discuss this question but like the *Upanishads* lends itself as authority to

all these schools of thought The doctrine of *Karma*, the law that governs the individual Soul, is accepted by all the three schools

The Soul's dwelling place is a casing of body which includes the senses and the mind This casing is made out of and has its basis in the world of matter At death, that is, when the Soul departs from one such body, it takes with it a load of character or *Gunas* as developed by the activities so far gone through This makes the start for the next body The Soul carries the *Gunas* in subtle form in its passage from one life to another, as the wind takes with it the fragrance from the bowers through which it passes

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन ।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

A fragment of Mine own Self becomes in the world of living things an immortal Soul It attracts to itself the five senses and a controlling mind, all six established in matter

XV-7

शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर ।
गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

The Soul, when it takes up lordship over a body and when it leaves it, takes these with it as the wind takes fragrances from bower to bower

XV-8

श्रोत्र चक्षु' स्पर्शन च रसन घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चाय विषयानुपसेवते॥

Using the ear, the eye, and the organs of touch, taste and smell, and the mind also, it enjoys the objects of the senses

XV-9

It is this contact with the objects of the senses, and the attractions and attachments thereto that in subtle form hang on to the Soul and become its *Karmic* load No explanation or theory in regard to the ultimate cause of things can be free from objections or difficulties from the rationalist point of view But, on the assumption of an immortal Soul as the basis of personality no theory can be formulated more in conformity with the known laws of nature than the Hindu doctrine of *Karma* Man evolves himself exactly according to his actions, the process being unbroken by death and passing on to the next life This, the most important doctrine in Hindu religion, is the application in the moral sphere of the law of conservation of energy and indeed both may be looked upon as parts of one law *Karma* is the rule of the law, so to say, in the spiritual world Cause and effect must be equivalent As death is only disintegration of the body, and not of the Soul, the law of cause and effect, so far as the Soul is concerned, continues to operate beyond death The death of the body does not operate as a bankruptcy court The old account is carried over

The tiniest pebble thrown into water produces a ripple. The disturbance is carried onward in ever-widening circles on the water One ripple may cut across, add itself to, and be merged in another, increasing or reducing it, but not the tiniest movement can go for naught Likewise also do all our acts—and acts include thoughts—produce results The most transient and secret thought entertained in the mind ruffles the calm of the Spirit Universal, and the disturbance has to be worked off

Over and above the effect on others and apart from any question of reward or punishment, we can see, without the help of any doctrine, that every thought or act, good or bad, has at once an effect on oneself Every motion of the mind deals a stroke with chisel and mallet, whether one wants it or not, on one's own character and its evolution is made better or worse thereby If I think evil today, I think it more readily and persistently tomorrow and likewise is it with good thoughts If I control or calm myself, it becomes more spontaneous, more easy next time, and this goes on progressively At death, the Hindu doctrine says, whatever character has been hammered out by the thoughts and deeds and repentances of the life that is closed continues to attach itself as the initial start of character for the Soul in its next journey

Karma is not Fatalism It is not an arbitrary and external agency which makes personal effort of no avail On the contrary, the theory places one's evolution in one's own hands completely, and even death does not interfere with the progress of effort We shall revert to this aspect of Karma in Chapters VII and VIII

It is well known that physical characteristics and mental traits are passed on from parents to children This heredity does not explain what is sought to be explained by the law of *Karma* Bodies are shaped by heredity, but not souls The Soul has no father or mother, but is self-existent Any Soul may be lodged in any body in which it has earned the fitness to function Bodies are only the tenements provided for souls even as engineers may build in similar or varying types for citizens to choose and live in, according to their needs A house may be improved or even damaged by the occupant The next person who comes into the tenements does so because it suits his own condition A father may ruin the coming son's body, but which soul is to come as that son depends on the stage reached in the *Karmic* evolution of that soul When a son is born to parents he appears to inherit their physical and mental characteristics but in reality what he inherits is his own previous life's accumulation, by reason of which he is embodied as son to such

parents The *aurasa* son is such only in the physical body In the soul, even an *aurasa* son is, so to say, but an adopted son The law of heredity does not dispense with or interfere with the operation of the law of *Karma*

Besides XV-7, 8 and 9 already quoted the following *Slokas* may be studied in this connection —

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

Know that matter and Soul are both without beginning, and that all material forms, phenomena and qualities come out of matter

XIII-19

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

Out of material nature are produced the means and effects, but the Soul has brought them about and reaps the pleasure and pain

XIII 20

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

The Soul established in matter enjoys the qualities born of matter, attachment to this enjoyment is the cause of its births in good and evil wombs

XIII-21

Chapter III

GOD AND NATURE

[Adhyaya VII—Slokas 4-14, 25 and 27 Adhyaya IX—Slokas 4 6, 8, 10 and 16-19 Adhyaya XV—Slokas 16-18]

WE shall continue in the next chapter our study of the *Gita*-teaching as to how to live It will be helpful to pause here to contemplate on the Hindu interpretation of the riddle of the Universe, the great "open secret" which has baffled man ever since he began to think deeply, and which must ever remain an insoluble paradox This involves a study of the 7th, 9th and 15th *Adhyayas* of the *Gita*

All the physical elements of nature, including the material bodies of animate beings and their sensory and mental functions, may be grouped together forming the ever-changing physical aspect of the universe This is called *Prakriti* (प्रकृति) Behind the animate is the soul that dwells within each being and animates it Behind all again is the Supreme Being whose power it is that holds together all the changes visible in one organic existence He dwells within and supports and moves everything, but exists apart from all

The universe moves according to what are known as the laws of nature. This code of nature is but the manifestation of the Supreme Will God Himself is not seen as such and as a whole What we see of Him we are content to call by the name of physical and moral laws, and life proceeds *as if wholly independent of God*

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

Earth, water, fire, air, ether, thought, reasoning and consciousness of individuality—these are eightfold divisions of My nature

VII-4

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

This physical nature that I have described is My *inferior manifestation* *My other* and higher nature is the life-principle by which the universe is upheld

VII 5

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

Understand that these two constitute the womb of all beings I am the origin of the whole universe and that into which it dissolves

VII-6

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

There is naught whatsoever beyond Me. All this universe hangs together on Me, as pearls on a string

VII-7

The dependence of all things and beings in Nature on the Supreme Spirit is illustrated in the following four *slokas*

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

I am the taste in water, I am the radiance in the sun and the moon, I am the sacred OM in all the Vedas, I am sound in space, I am virility in men

VII-8

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

I am the sweet fragrance of the earth and the heat in the fire the life in all beings, the austerity in ascetics

VII-9

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

Know Me as the seed primeval of all beings I am the *buddhi* of the wise, the splendour of the illustrious

VII-10

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

I am the strength of the strong, when it is untainted by desire and passion I am Love that moves all beings, when it is not against *Dharma*.

VII-11

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥

Know that purity, passion and inertia are all from Me I am not affected by these conditions, but they rest in Me

VII-12

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभि सर्वमिद जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य परमव्ययम् ॥

All this world, deluded as it is by the play of these three conditions, ignores Me, who transcend these and am ever-abiding

VII-13

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते ॥

This divine *maya*, operated by Me and founded on the play of qualities, is hard to overcome, but they who seek refuge in Me cross over this illusion

VII-14

नाह प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽय नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

I am concealed from view by this illusion of creative activity This ignorant world does

not know Me, who have neither birth nor ending

VII-25

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि समोह सर्गे यान्ति परन्तप ॥

Deceived by the opposing forces of attraction and repulsion, all creation lives and moves in delusion

VII 27

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

There are two elements in all beings, the one changing and the other unchangeable All animate form is *Kshara*, the *Akshara* is the presiding spirit

XV-16

उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥

The highest principle is, indeed, to be distinguished, described as the Supreme Self, He who pervades and sustains the three worlds, the Eternal Lord

XV-17

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥

Since I transcend the changeable as well as the unchangeable, I am known in common parlance as well as proclaimed in the *Veda* as the Supreme Spirit XV-18

Notwithstanding the fact that God supports and governs all, we are ignorant of it, as the process of His governance is inclusive of ourselves and all our perceptions, thoughts, reasonings and emotions The laws of nature *are* the will of God His will is manifested in the shape of what we see directly or by investigation but which we choose to call by the name of Truth or Law of Nature God is the Law and the Law is He He rules through the Law, and it seems as if the Law rules and not He The two are not different, nor can there ever be a variation between them

The following analogy may serve to explain this identification of the will of God with the laws of nature

Suppose a magician creates a tank of water and by the same magic fills it with fish and other aquatic animals with some understanding though limited The fish must take the water and the tank and all the conditions of their life in the magic tank as "natural", and do not know that it is all but the magician's will quite as much as they themselves are the will of the magician Even if he had created, not water and fish, but kerosene and fish living therein, and even if the kerosene changed into water and the water into kerosene on alternate days, the knowing fish would have taken it all as "natural" and made a synthesis of all that they observed, and mentally

codified it into a body of natural laws They would be incognizant of the real author and controller. In the same way do the laws of physical nature hide God, though they are but the manifestation of His will So perfect is His rule that He disappears from the scene, but He is ever present in the Law itself

The will of God acts as the continuous natural creative force of the world, *Yoga-Maya*, as it is termed in VII-25, and the untranscendable rule of Law, described as *Yogam Aisvaram* in IX-5 It is God that works throughout all the seeming phases and complexities of life

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

All this world is pervaded by Me in form unmanifest, all beings abide in Me, but I stand apart from them

IX-4

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावन ॥

And yet beings are not rooted in Me Behold the scheme of My sovereignty, Myself, the origin and the support of beings, yet standing apart from them!

IX-5

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

Using Nature, which is Mine own, I create again and again all this multitude of beings dependent on and bound by nature

IX-8

मयाऽध्यक्षेण प्रकृति· सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥

Under My over-seeing eye, Nature brings forth the moving and the unmoving and keeps the world rolling on

IX-10

अह क्रतुरहं यज्ञ स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरह हुतम् ॥

I am the sacrifice, I am the rite, I am the ancestral offering, I am the herb, the *mantra*, the butter, the fire and the offering

IX-16

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामह· ।
वेद्य पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥

I am the Father of this world, the Mother, the Supporter, the Grandsire, the Holy One to be known, the OM, and also the *Rik*, *Saman*, and *Yajus*

IX-17

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवास शरणं सुहृत् ।
प्रभव प्रलय· स्थान निधान बीजमव्ययम् ॥

The Path, Protector, Lord, Witness, Abode, Asylum, Friend, Origin, Dissolution, Foundation, Treasure, Seed imperishable

IX-18

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

I send heat, I hold back and pour down the rain, I am immortality and I am also death, I am being, and I am also non-being

IX-19

The following *sloka* expresses the ever present restriction of the unchangeable law, though within that limitation beings are free to act

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

Reflect on this that as the mighty air everywhere moving is yet fixed in Space, even so all beings are dependent on Me

IX-6

Chapter IV

RIGHT ACTION

[Adhyaya II—Slokas 47, 48 Adhyaya III—
Slokas 3-9, 20, 21, 25-29, 33 Adhyaya IV—
Slokas 16, 18, 19, 22, 31-33, 37, 38, 41,
42 Adhyaya V—Slokas 4, 7, 11
Adhyaya VI—Slokas 1, 2
Adhyaya XVIII—Slokas
2, 7, 9, 11 56, 57]

WE shall now revert to the ethical teachings of the *Bhagavad-Gita* Reverence for the past and the spirit of conservatism that characterize Hindu thought should not be mistaken for unprogressive rigidity In spite of its undoubted conservatism, in no other religion is there greater elasticity freedom of thought, or scientific respect for truth Hinduism has grown and evolved like every other living body of thought and faith It has always displayed the boldest varieties of conception Various Hindu scriptures emphasise various aspects of the truth as the Hindu elders saw it The *Gita* evolves an ethic in advance not only of belief in mere ceremonial observances, the earlier phase of Hinduism, but also of the recluse's life of mere abstention

The *Gita* emphasises that the activities of the world must go on The good man does the tasks to which he is called and which appertain to his place in society In all his activities, he does things like others outwardly, but inwardly he maintains a spirit of detachment. He does everything without selfish motive, and maintains equilibrium of mind in success and failure, pleasure and pain, joy and sorrow Purified thus the good man is qualified for further progress by constant meditation, prayer and devotion, and finally he "sees himself in everything and everything in God " *Yoga* consists in living this dedicated life in the midst of worldly affairs

There is true renunciation in right action What we should renounce is not action but selfish desire We should liberate our activities from the bondage of selfish purpose Work should be done in a spirit of duty done, and results should not be permitted to agitate the mind This unselfish and detached attitude can and should be cultivated even while we are engaged in life's activities Continual practice of this attitude of mind will lead, in the higher stages of progress, to the elimination of the difference between the way of *Yoga* and the way of *Sannyasa*

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

What is action, what is inaction? Even the wise are perplexed over this Therefore I shall explain to you how to act, knowing which you will be saved from evil

IV-16

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

He who perceives inaction in action and action in inaction, has among men attained real knowledge, even while performing all action, he is doing *Yoga*

IV-18

To perceive "inaction" in "action" is to understand and carry out the principle of renunciation of selfish desires while doing the work allotted to or taken up by one To perceive "action" in "inaction" is to realize that external abstinence by itself does not amount to purity of mind, and to attain by practice the control of internal desires This is reiterated in both aspects in IV-41, quoted on pages 52-53

Activities free from selfish attachments do not leave a *Karmic* residue

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

The learned deem him to have realized the truth whose plans are not shaped by desire, and

whose actions have been purified in the furnace of knowledge

IV-19

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥

Content with what comes to him of itself, having transcended the pairs of opposites, free from hatred, facing with equal composure success and failure, though acting he does not create bonds for himself

IV-22

Sacrifices are prescribed in the *Vedas*, but by a bold though gentle process of interpretation, the *Gita* evolves the idea that the essence of sacrifice is not ceremonial but the giving up of selfish desires Sacrifices the *Gita* says, may take various forms according to the true interpretation of the *Vedic* teachings All sacrifices involve activities This, again, is a reason why action should not be given up but just liberated from the trammels of desire and shaped into sacrifice After thus broadening the definition of Sacrifice the *Gita* says

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

The food that remains after sacrifice gives immortality Those who eat it go to the changeless Brahma He who does not sacrifice

gains nothing even in this life, not to speak of the life beyond

IV-31

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

Many and various are the sacrifices thus spread out in the *Vedas* for the aspirant to choose Know that all these come from action, knowing this you can free yourself from bondage

IV-32

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

Better than ritualistic sacrifice that is performed with various articles prescribed therefor is the sacrifice the chief ingredient of which is right knowledge All prescribed actions attain their complete fulfilment only in true knowledge

IV-33

Jnana (ज्ञान) manifests itself in the cultivation of a detached attitude in all work *Jnana* is not fully expressed by "knowledge" or "wisdom" It involves a complete transformation of oneself in accordance with the truth that is seen Such transformation results from and at the same time leads to progressive realisation of one's unity with the rest of the world and of the whole world with God Action becomes free and sinless once the motive of action is freed from selfish aims

This is vividly explained in the following *slokas* —

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

Burning fire reduces the wood to ashes, even so does the fire of knowledge reduce all action to ashes

IV-37

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

There is no purifier in this world like knowledge, he that perfects his practice of selfless action finds that knowledge in himself in due time

IV-38

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

The man who while acting yokes his action to renunciation, who has destroyed doubt by knowledge, and who is ever watchful over himself, actions do not bind

IV-41

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

Therefore, with the sword of knowledge destroy this ignorance-born doubt that dwells in your heart, and stand up, established in *Yoga*

IV-42

Thus, there is no real distinction between the way of renunciation and the way of duty performed True renunciation and true performance of work are identical, the essence of both being the giving up of personal desire

> साख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः।
> एकमप्यास्थित सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
>
> Children, but not those who know, speak of the *Sankhya* and the *Yoga* as different, he who is duly established in either obtains the fruits of both
>
> V-4

> अनाश्रित कर्मफल कार्यं कर्म करोति यः।
> स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
>
> He that performs such action as is his duty, not looking forward to the fruit of such action, is a *Sannyasi* as well as a *Yogi*, not he that gives up the household fire and sits inactive
>
> VI-1

> यं सन्यासमिति प्राहुर्योग त विद्धि पाण्डव।
> न ह्यसन्यस्तसकल्पो योगी भवति कश्चन॥
>
> That which is called renunciation, know that as *Yoga*, no one can become a *Yogi* who has not renounced plans and desires
>
> VI-2

Once personal desire is got rid of, and the unity of all existence is realized, and, as a result thereof, the correct attitude of detachment is

developed, one is an ascetic, even though engaged in all kinds of social activities

> योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
> सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।

He is unaffected by *Karma*, although engaged in action, who has yoked himself to the way of *Yoga*, whose mind is purified, whose self has triumphed and whose senses have been subdued, and whose self has, indeed, become the self of all beings Although acting he remains unaffected by *Karma*

V-7

> कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
> योगिनः कर्म कुर्वन्ति सग त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥

Yogi, having renounced attachment, performs action using the body, the mind, the reason or even the senses alone for the purpose of self-purification

V-11

That this teaching of the *Bhagavad-Gita* is not any kind of protestant departure from Hindu doctrine but is a mere expansion of the principles enunciated by the early fathers of Hinduism is seen from the fact that all that is emphasised in the *slokas* collected in this chapter is contained in the following verses in the *Isavasyopanishad* --

> ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत् ।
> तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा. ।
एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

Everything in the universe abides in the Supreme Being Realizing this, cast off the desires that rise in the heart, for example, the thought of possessing what is enjoyed by another Joy comes by that renunciation of desire Do your work while you go through the allotted years of your life In the detachment and dedication aforesaid lies the way for man to go uncontaminated by *Karma*, not otherwise

The *Gita* lays reiterated emphasis on the unselfish performance of duty as preferable to attempts at renunciation of activities The eighteenth chapter, which summarises the teachings of the *Gita*, though named *Sannyasa-Yoga*, starts with the following *slokas* —

काम्यानां कर्मणा न्यास सन्यास कवयो विदु ।
सर्वकर्मफलत्याग प्राहुस्त्याग विचक्षणा ॥

Sages accept as *Sannyasa* the renouncing of works that are motived by desire The relinquishing of the fruit of all actions is called *Tyaga* by them

XVIII-2

नियतस्य तु सन्यास कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस· परिकीर्तित: ॥

Renunciation of duties that are prescribed is not proper, it is declared that such relin-

quishment is due to delusion and is a sign of Tamasic nature

XVIII-7

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

The *Tyaga* that consists in the performance of prescribed duty with the feeling that it ought to be done in a spirit of detachment and not desiring for oneself the fruit thereof, is regarded as Sattvik

XVIII-9

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

Having to bear the burden of the physical body, one can never completely relinquish action, he who succeeds in relinquishing the fruit of action has done all and is known as *Tyagi*

XVIII-11

This is re-stated in the following *slokas* with a stress on complete surrender to the Divine will and unqualified dependence on Grace —

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

Though ever engaged in performing all the actions appertaining to his station, he who takes refuge in Me, by My grace attains the eternal imperishable abode

XVIII-56

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर.।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त. सततं भव ॥

Dedicating mentally all works to Me, eager to reach Me, practise *Buddhi-Yoga,* ever filling your mind with Me

XVIII 57

Constant contemplation of the true nature of the Soul and its relation to Matter and God is necessary for the attainment of serenity of mind But, without the practice of a detached attitude, while performing our duties, such contemplation is not possible and can be of no avail The practice of serenity of mind by contemplation of the Truth, and the practice of an attitude of detachment in normal activities are really complements of each other When the effort is successful, there is no real difference between them *Buddhi-Yoga* is attained when self-control and detachment and longing for union with God have become the normal condition of the mind

Serenity of mind cannot come by attempting prematurely to withdraw from the world The real merit in abstention from action lies in the absence of personal desire or motive, and this is attained in the performance of duty unaffected by personal desire Thus *Sannyasa* and *Karma-Yoga* are the same

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

Your duty is but to act, never to be concerned with results, so let not the fruit of action be your motive Do not let yourself be drawn into the path of non-action

II-47

योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ॥

Engage yourself in activities, established in *Yoga,* renouncing attachments, and face with even composure, success and failure Equilibrium is called *Yoga*

II-48

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन साख्याना कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

Men can follow either of the two paths that I have revealed before, that of *Yoga* by realization of the Truth, as explained by the Sankhyas, and that of *Yoga* by unselfish and detached action, as explained by the *Yogis*

III-3

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥

The soul does not attain freedom from action through refraining from activities By merely abstaining, one does not attain perfection

III-4

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणै ॥

No one can, even for an instant, remain really actionless, for helplessly is every one propelled to action by his innate qualities

III-5

Ambitious attempts on the part of men to retire from activity and follow the path of *Sannyasa* lead to hypocrisy and self-deception and increased impurity of mind The safer course for men is to seek to do things in a detached spirit

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

The man who sits, restraining his organs of action, but dwelling in his mind on the objects of the senses, deludes himself and is called a hypocrite

III-6

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

But he is worthy who controls the senses by his mind, uses his organs of action without developing attachment towards sense-objects, and thus practices the *Yoga* of action

III-7

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥

Engage yourself in proper activities Action is better than non-action Without work, even the bare sustenance of life is not possible

III-9

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन. ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग समाचर ॥

Men suffer the bondage of *Karma* only when an act is done otherwise than in the spirit of sacrifice In that spirit, free from attachment, engage yourself in action

The first impulse of a religious mind is to abstain from activity and renounce the world Indeed, the earlier Hindu teaching displayed a leaning towards this The *Gita*, however, definitely rejects this solution With inherited tendencies, it emphasizes, action is inevitable Repression causes the mind to run on, even while externally restrained from finding expression in action, and leads to hypocrisy or perversion, whereas the practice of the method of detachment trains the soul without unnatural repression to liberate itself from the load of inherited qualities

प्रकृते क्रियमाणानि गुणै. कर्माणि सर्वश. ।
अहकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

Our acts are all determined by the propensities of our nature The illusion of the ego makes the soul consider itself the doer

III 27

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयो ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

But he who knows the truth about propensities and action, understanding that

propensities express themselves, keeps his soul unattached

III-28

सदृश चेष्टते स्वस्या. प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

Even the man of profound knowledge acts in conformity with his own congenital nature All beings follow their own nature Of what avail is suppression?

III-33

Now comes a clinching argument against leaving the world to become a recluse You cannot set for yourself the plan of renunciation and expect others to carry on the normal work of society while you stand out Social life must go on, and what you do, others must be expected to copy The ethic of the Gita is pre-eminently a social one What was good for great Janaka, it says, is good enough for all

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

Janaka and others attained perfection only through performance of duties Looking even to the welfare of society, you should work

III-20

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

Whatever way of life a high-placed man adopts, other men copy, the standard he sets up is followed by the people

III-21

The co-operation of all is needed for the world—of the wise as well as of the ignorant The ranks of the wise may and should steadily increase But it should not be forgotten meanwhile that social life cannot dispense with the co-operation of the ignorant Their minds, therefore, should not be purposely disturbed

सक्ता. कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥

The informed should toil with the motive of the social welfare without attachment, even as the uninformed toil, moved by personal desire for results

III-25

न बुद्धिभेद जनयेदज्ञाना कर्मसगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्त समाचरन् ॥

Let no man who has the advantage of knowledge unsettle the mind of ignorant people who are moved by attachment to the results of action, but, himself following the rule of *Yoga*, let him work rendering all action attractive

III-26

प्रकृतेर्गुणसम्मूढा सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

Those on whom the qualities of matter have wrought their spell are propelled to action by the attachments so generated The man who has realized the truth should not unsettle the imperfect understanding of the weak-minded

III-29

CHAPTER V

THE PRACTICE OF MIND-CONTROL

[Adhyaya II—Slokas 60-63, 67 Adhyaya III—Slokas 36-41 Adhyaya XVI—Slokas 21, 22 Adhyaya XVIII—Slokas 36, 37]

THE *Gita* teaching explained in the previous chapter, *viz*, that true renunciation is best exhibited in selfless performance of work and not in withdrawal from the world, is not a theory put forward to serve as a defence or an apology for those who are unwilling to withdraw from the world It is intended to be the basis for the actual moulding of men's lives, so as to develop a habitual and spontaneous attitude of selflessness and detachment As a duck swims in water and when it steps out sheds the water from off its back so should we learn to move in the world, not wanting in expertness or tidiness or efficiency in work, but vigilantly guarding against the development of selfish attachments Constant practice of control of mind is essential to enable one to maintain this detached attitude

The enemies of good resolution are lust, anger and greed He who wishes to develop detach-

ment must be continually on the watch against these perturbations of the mind If the mind is controlled, the rest will take care of itself The power of thought is great, for either good or evil If the mind is not carefully guarded, desire will find its perch in the senses, seize our thoughts pollute our intelligence and finally ruin us Therefore the battle must be fought with desire at the gate, even while it seeks entrance in our thoughts

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन ॥

The rebellious nature of the senses is such that even in a man who knows and who is sincerely striving they are apt violently to carry away his mind

II-60

तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्पर ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

Restraining them all, he should sit with his mind composed and bent on Me He whose senses are mastered has his understanding firmly fixed

II-61

ध्यायतो विषयान्पुंस सगस्तेषूपजायते ।
सगात्सञ्जायते काम· कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

When a man allows his mind to muse on the objects of sense-enjoyments, an attraction for them is created Attraction develops into

craving, and from craving follow causes for anger

II-62

क्रोधाद्भवति सम्मोह सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

Anger produces delusion Delusion confuses the memory and understanding of things, from this confusion of understanding follows the disintegration of the power of discrimination, with discrimination gone, the man perishes

II-63

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

The mind that follows the wandering senses carries away the Reason of the man with it, as the gale bears away the ship on the ocean

II-67

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽय पाप चरति पूरुष ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित ॥

Arjuna asked

But impelled by what, does a man commit sin, as it were by force constrained, though he does not wish, indeed, to be a sinful man?

III-36

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

The Lord said

It is desire It is anger It is born out of the principle of passion in nature, insatiable and all-polluting Know it as our enemy here on earth

III-37

धूमेनाऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

As smoke surrounds fire, as a mirror is covered over with dust, as the embryo is encased in the womb, the understanding is enveloped by this enemy

III-38

आवृत ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

This perpetual enemy of the wise, this unquenchable and insatiable foe, Desire, surrounds and holds the understanding as prisoner

III-39

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

It is said that this enemy seizing the senses, the mind and Reason and thus closely surrounding and isolating the understanding, uses them to bewilder the soul

III-40

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मान प्रजहि ह्येन ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

Therefore, governing first the senses, slay this evil thing, which otherwise will destroy knowledge and discrimination

III-41

त्रिविध नरकस्येद द्वार नाशनमात्मन. ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत् ॥

There are three gateways to hell, by which one's self-ruin is brought about—lust, anger and greed, therefore let these three be renounced

XVI-21

एतैर्विमुक्त कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर· ।
आचरत्यात्मन श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

Saved from these three gates of darkness, man works out the good of his self, and reaches the highest goal

XVI-22

True happiness does not come from that which at first is like nectar, but which in the end becomes, indeed venom Self-control leads to true happiness, though in the beginning it is hard and bitter

सुख त्विदानीं त्रिविध शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दु खान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुख सात्त्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

Of three kinds of pleasure, that in which one by gradual practice rejoices and in which

one finds an end to grief, which at first is as venom, distasteful, but in the end is like nectar, that pleasure is said to be Sattvik, born of the clarified understanding of the soul

XVIII-36, 37

CHAPTER VI

MEDITATION

[Adhyaya II—Slokas 14, 15, 38 Adhyaya V—Slokas 22-24, 26, 28 Adhyaya VI—Slokas 3-7, 10-14, 16, 17, 19, 24-27 Adhyaya XII—Slokas 13-19 Adhyaya XIV—Slokas 22-25]

AFTER practising an attitude of unselfishness when engaged in normal activities, the aspirant can advance towards an attitude of indifference to pain and pleasure Success or failure in any endeavour should not agitate the mind Pain and pleasure should be welcomed with equanimity as being impermanent and, in the very nature of things, complementary to each other They are part of the universal law of relativity, inescapable They arise out of the "contacts of matter" and have no effect on the soul

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

Material contact produces cold and heat pleasure and pain These sensations are fleeting and insubstantial, go through them unruffled

II-14

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

The man who is not ruffled by these, who is brave, and the same in pain and pleasure, shapes himself for immortality

II-15

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

Welcoming, with equanimity, pleasure and pain, acquisitions and losses, victory and defeat, get ready for battle, thus you shall not incur sin

II-38

It is one's own thoughts and one's own actions that affect the fortunes of one's soul, not the alternating joy or sorrow that comes from without

True happiness comes not from contact-born pleasures, but from self-control The serenity of mind that is attained by the practice of self-control works such a change that it may be said that thereby the soul is liberated even though it is still imprisoned in the flesh

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

The pleasures that are contact-born become, indeed, wombs of pain Such pleasures have beginning and ending, the wise do not rejoice in them.

V-22

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

He is a happy man and a *Yogi* who learns to withstand here on earth, ere he be liberated from the body, the force of desire and anger

V-23

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

He whose pleasure is within himself, who derives joy within himself, who has a shining light within himself, that *Yogi* attains final liberation and is absorbed in Brahma

V-24

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

Final liberation lies near to those seekers who control their mind, who cast off desire and passion and who know themselves

V-26

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

With senses, mind and intellect ever under control, absorbed in the pursuit of final liberation, the sage free from desire, fear and anger, is, indeed, already liberated

V-28

It would, however, be premature to attempt to attain this serenity of mind without first habitu-

ating oneself to unselfish performance of all duties If the unselfish attitude is by practice made almost spontaneous in normal activities, one is qualified to enter on the more difficult practice of serenity irrespective of success or failure, or of joy or sorrow

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

For a sage who is seeking *Yoga*, performance of duty is declared to be the means, when he is well confirmed in the practice of *Yoga*, serenity is declared the means

VI-3

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

When a man feels no craving for the objects of sense or for being engaged in activities therefor, and his mind is free of all such plans of action, then he is said to be confirmed in the practice of *Yoga*

VI-4

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

Let one raise the Self by the Self and not let the Self within become weak, the Self is, indeed, the Self's only friend, but the Self is also its own enemy

VI-5

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

He who has conquered himself by self-control finds a friend in himself, but he becomes verily his own worst enemy if he has not learnt to govern himself

VI-6

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

The transfigured Self of him who has attained self-control and equanimity is unruffled in cold and heat, pleasure and pain, honour and disgrace

VI-7

After one has trained oneself to be a *Karma-yogin*, that is to say, to do the duties that fall to one's lot without selfish desire and without agitation as to success or failure, one is advised as often as possible to withdraw from the world for deep and undisturbed meditation Such meditation is a great aid to secure serenity of mind *Yoga* in the following slokas is the practice of such meditation —

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

Let the Yogi often retire to a secluded place, alone, with mind controlled, and divesting himself of wishes and of all thought as to

possessions, and concentrate his mind on his soul

VI-10

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।
नात्युच्छ्रित नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

Seated in a clean place, on a fixed seat prepared for himself, neither very much raised nor very low, covered over with cloth, skin and Kusha grass

VI-11

तत्रैकाग्रं मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

There, having steadied his mind, controlling thought and the functions of the senses, sitting on his seat, he should engage himself in meditation for the purification of the Self

VI-12

सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचलं स्थिरः ।
सप्रेक्ष्य नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन् ॥

With body, head and neck erect, not shaking, steady, eyes turned to the point of the nose and gaze not wandering

VI-13

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित. ।
मन· संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर· ॥

With internal calm, fearless, firm in the vow of Brahmacharya, the mind well governed,

thinking of Me, let him sit harmonised and absorbed in attaining Me

VI-14

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

Yoga is not for him who eats too much, nor for one who absolutely abstains from food, it is not for him who is too much addicted to sleep, nor is it to be attained by keeping vigils

VI-16

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

Yoga, the destroyer of pain, is for him whose food, diversions, work, sleep and waking are all controlled and regulated

VI-17

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन ॥

When a lamp is set in a place where the air is absolutely still, the flame does not flicker To this is likened the steadfast meditation of the Yogi, whose mind is under control

VI-19

Note the insistence on moderation in every thing including austerities The secret of success is in steady practice in the art of controlling thoughts which continually seek to run away with the mind, and not in excessive severity of austerities

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

Keeping the mind absolutely free from all desires and using the mind to curb the senses, in every direction

VI-24

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

Let him use his *Buddhi* with steady application gradually to withdraw into himself and thus having made the mind abide in the Self, let him not think of anything

VI-25

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

Each time the wavering and unsteady mind seeks to wander, let him restrain and bring it under control and lead it to abide in the Self

VI-26

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

The purest joy comes to the *Yogin* who has quelled the restlessness within him, whose mind has attained calm, and who, thus purified, has attained his true self and turned himself to the Infinite

VI-27

The following *slokas* in the 12th *Adhyaya* describe the man who has attained this ideal serenity of mind —

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

He who has no hatred, and is a friend of all living things, full of compassion, without the feeling of "I" or "Mine," balanced in pleasure and pain, and ever forbearing

XII-13

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥

Content always and yoked to the Spirit, self-controlled, resolute, with emotion and understanding dedicated to Me, he is My devotee, and is dear to Me

XII-14

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

He who does not cause perturbation to other beings, and who is himself not perturbed at the world, who is free from the agitation of joy, anger and fear, he is dear to Me

XII-15

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

He who desires nothing, is pure, right-minded, passionless, unruffled, has renounced

all worldly plans, he, My devotee, is dear to Me

XII-16

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य स मे प्रियः ॥

He who does not live or hate, who does not grieve or long for anything, who has given up looking on things as welcome and unwelcome, such a devotee is dear to Me

XII-17

सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जित ॥

Alike in mind to those who are friendly to him or unfriendly, and looking with even composure on fame and obloquy, alike in cold and heat, pleasure and pain, free from attachments

XII-18

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

Valuing praise and reproach alike, silent, wholly content with what comes, not looking on any place as his home, firm in mind, he is My devotee and such a one is dear to Me

XII-19

The serenity of mind thus developed by the regulation of activities and regular meditation is ever liable to be disturbed by the forces of the inherited physical body These tend to operate

in spite of self-realization, but the wise man protects himself by continually reminding himself of the truth He is not agitated by the changing phases of his nature, which now may be equilibrium, and now urge for action, or again inertia

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥

He who welcomes clarity of spirit, the urge to activity, and even delusion as they come, but does not long for them again when they disappear

XIV-22

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

He who remains unmoved, keeping his inner spirit unaffected and unruffled by the changing moods, saying to himself, "The qualities of my material body are just moving"

XIV-23

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

Equally welcoming pain and pleasure, self-sustained and brave, to whom a clod of earth, a piece of stone and a nugget of gold are just the same, who makes no difference between those that are dear and those who are not and is the same in praise or blame

XIV-24

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणतीतः स उच्यते ॥

The same in honour and calumny, the same to friend and foe, having abandoned all worldly undertaking—such a one is declared as having overcome natural propensities

XIV-25

CHAPTER VII

INHERITED PROPENSITIES

[Adhyaya V—Slokas 14, 15 Adhyaya XIII—Slokas 30-32 Adhyaya XIV—Slokas 5, 19 Adhyaya XVIII—Slokas 40, 60, 61]

AS an aid to charity in judging others and to serve to calm the mind in moments of agitation, it is very useful to remember why men act wrongly There is a load of congenital qualities with which we begin and which tend to find expression whenever we fail to exercise self-control We should think of our own weaknesses when we see others fail Again, behind everything is God, the real Actor We should not be disturbed by the constant appearance of what seems to our limited understanding to be evil His will and His plans are inscrutable, though worked through natural laws

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

The soul does not exercise any agency or perform action, nor is it concerned with the fruits of action It is the qualities of material nature that carry on.

V-14

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

The soul in its true nature is unaffected by evil-doing in any, or by kindness either True understanding is darkened by ignorance, thereby are creatures deluded

V-14

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

He sees the truth who perceives that the forces of material nature really bring about all actions, and that the Self is actionless

XIII-30

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥

When one perceives the common basis of all diversified existence and how everything shapes itself and spreads out from it, one realizes Brahma

XIII-31

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

Being beginningless and without material qualities, the immutable and pure soul, though seated in the body, neither acts nor is affected

XIII-32

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

Goodness, the spirit of activity and inertia are the principles that move men, they are matter-born, while in the body the soul, though itself immutable, is tied up to and moved by those qualities

XIV-5

नान्य गुणेभ्य कर्तार यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च पर वेत्ति मद्भाव सोऽधिगच्छति ॥

That man has attained My spirit who has realized that there is no agency other than the qualities of material nature, and who has seen that which stands higher than these qualities

XIV-19

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुन ।
सत्त्व प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभि स्यात् त्रिभिर्गुणै ॥

There is no being on earth or even in heaven among the gods that is liberated from these three qualities born of matter

XVIII-40

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

That which you desire to abstain from through false notions, even that you will helplessly do, impelled by the motion of your own nature

XVIII-60

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

The Lord dwells in the hearts of all beings, and through the forces of *Maya* causes all beings to move like puppets on a revolving machine

XVIII-61

Maya is here material nature constituted by the *Gunas* The lesson of the above *slokas* is that the qualities with which men start on their life-journeys determine their activities We should not be moved to anger or contempt if any one commits what we deem to be wrong nor pride ourselves upon our own good actions The *slokas* are not to be interpreted as if men were absolved from responsibility The Gita makes it clear that it is only by personal effort and by the practice of self-control that we may be delivered of the character-load with which we begin That men are moved by congenital qualities born of previous *Karma*, which defeat all efforts at ignoring them is a teaching to cultivate charity towards others and serenity in ourselves, and not a doctrine of irresponsibility It would be the reverse of what the *Gita* teaches if the inevitability of qualities resulting from *Karma* moves us to contempt or cruelty towards others, instead of making us more charitable

The self is, in one sense, not the real actor, but in another sense he is The *Gunas* have their roots in the body, lead the physical senses and the body, and hold the Spirit within as a prisoner The Spirit, however, can detach itself and over-

come the qualities For this, however, *Jnana* (ज्ञान) is essential *Jnana* is not a thing to be attained by mere study or meditation It can be attained in a real and useful sense only by self-control in thought and action The tendencies of men broadly classified as सत्त्व, रजस् and तमस् (*Sattva, Rajas* and *Tamas*) are matter-born and matter-bound, *i e*, have their origin and sustenance in the *Prakriti* which embodies the soul But they have their resultant effect on the soul By the exercise of self-control and true knowledge, a man can realize his own freedom, irrespective of these inherited qualities and principles of material nature If he does not exercise self-control and practise an attitude of detachment he will not only remain bound unto this load, but increase it

Chapter VIII

HOPE FOR ALL

[Adhyaya IV—Sloka 11 Adhyaya VII—Slokas 20-22 Adhyaya IX—Slokas 23, 26, 27, 29 31]

THE doctrine of *Karma* should not frighten us Law is immutable but God is Love as well as Law There is none who need despair on the ground that his sins have been too great or too many Prayer and repentance purify the soul According to the *Gita*, whatever might have been said in the Hindu codes of observances, neither *sex nor caste makes any difference in the way of* Grace

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

The same am I to all beings, there is none hateful to Me, nor dear They who worship Me with devotion are in Me and so am I in them

IX-29

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

If even he who has greatly erred turns to Me with single-minded devotion, he too must

be counted among the good, for he has resolved well

IX-30

क्षिप्र भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ॥

Soon he becomes purified in spirit and attains abiding peace, know for certain that he who gives Me his devotion can never be lost

IX-31

And particularly referring to caste and sex disqualifications

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

They who seek refuge in Me, though born in the lowest condition, and be they women or Vaishyas or Sudras, they also attain the highest abode

IX-32

Genuine prayer and repentance are counter-motions in the field of *Karma* and neutralise previous acts But no one may deliberately indulge in sin on the assurance that the sin may later be washed away True repentance, which alone can be of avail, does not come that way Genuine penitence is a motion of the mind involving intense pain and is itself a self-imposed punishment neutralizer and a corrective for past sins, but it so acts only in the measure that it is truly suffered

Repentance and self-abasement and prayers for grace and mercy are operations of the mind, not words or ceremonies gone through or absolution procured from priests Words and ceremonies and priests may be helpful through inspiring association, and as aids to focus the mind in penitent thought, but are not in themselves cleansers of sin A man may deceive himself or others, but he cannot deceive Truth itself And *Karma* is immutable Truth You may mislead the patient about his temperature or deceive your customer about the weights of things sold to him, but you cannot cheat the thermometer or the scales themselves

Forms of worship do not matter They may vary, but are all in reality one This is the great, all-important and unique attitude of Hinduism towards the so-called religious differences

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

In whatsoever way men approach Me, even so do I bless them, for whatever the paths that men may take in worship, they come unto Me

IV-11

When we consider how long ago this truth was seen and laid down for men's guidance in such emphatic terms, we are in a position to appreciate

and admire the spiritual greatness of the fathers of Hinduism

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

Even the devotees of other gods who worship them full of faith, even they worship but Me, though irregularly

IX-23

पत्र पुष्प फल तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ॥

Whatever is offered to Me with devotion, be it a leaf, a flower, a fruit or water, is eagerly accepted by Me as the devoted offering of a striving soul

IX-26

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

Whatsoever you do, whatsoever you eat, whatsoever you offer in sacrifice, whatsoever alms you give, whatsoever penance you undergo, do it as an offering unto Me

IX-27

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता ।
त त नियममास्थाय प्रकृत्या नियता स्वया ॥

They whose understanding has been seized by various desires go to other gods, resorting to various external observances, conforming to their own natures

VII-20

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

Whosoever the devotee and whatsoever the form worshipped with sincere faith, it is I who bestow on him that firm faith

VII-21

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥

He, filled with that faith, seeks to worship such form He obtains his desires, I verily decreeing them

VII-22

This teaching, of course, referred to the unity of goal of all forms of worship that were prevalent at the time We may not claim that the varieties of religions and religious practices that came into existence much later were then thought of But the doctrine is stated in such wide terms and so broad-based on essential principle as to be applicable to every variety of religion

CHAPTER IX

GODLESSNESS

[Adhyaya XVI—Slokas 7-18, 23, 24]

WHILE it is true that whatever may be the form of worship God is reached, the *Gita* condemns godlessness and materialism in no uncertain terms, describing the materialist code of life in language that seems almost to refer to present-day affairs

The materialist does not admit that there is anything in itself right or wrong

प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा ।
न शौच नापि चाचारो न सत्य तेषु विद्यते ॥

> Men born with evil tendency know neither what is right to do to achieve a good object, nor what is right to abstain from doing to avert evil, neither purity nor truth, nor even right behaviour is found in them
>
> XVI-7

The materialist theory of life is stated thus·

असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूत किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

> The universe is not based on truth, it is not supported by any spiritual law, it is not

ruled by God; life is brought about by the coming together of matter, by the attraction of desire, and nothing else, thus these men aver

XVI-8

Godlessness leads to false ideas of progress and civilisation exploitation and war

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥

Holding this view of life, these conscienceless men of small understanding undertake fierce deeds and become enemies of the world and lead it to destruction

XVI 9

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥

Seeking to fulfil insatiable desires, moved by vanity, self-conceit and pride, holding to evil ideas obstinately through delusion, they engage themselves in action with impure resolves

XVI-10

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

Giving themselves over to unnumbered cares until death, regarding the gratification of desires as the highest object, believing firmly that there is nought else in the world

XVI-11

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

Held in bondage by a hundred cords of hopes and expectations, given over to lust and anger, they seek by unlawful means to hoard wealth for gratification of sensual desires

XVI-12

The pride of power and possession, be it of the individual, the group or the nation, and the destruction and anarchy which it leads to are described below

इदमद्य मया लब्धमिम प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

"This has been acquired by me today, this purpose I shall gain, this wealth is mine, and this also shall be mine soon"

XVI-13

असौ मया हत शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमह भोगी सिद्धोऽह बलवान्सुखी॥

"I have destroyed this enemy, and others also I shall slay I rule, I command pleasures, I am successful, I am strong, I am born to be happy"

XVI 14

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता॥

"I am wealthy, well-born, who else is there that is like me? I will perform sacrifices, I will give alms, I will enjoy" Thus deluded by ignorance

XVI-15

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

Agitated by numerous thoughts, enmeshed in the net of delusion, and addicted to the gratification of desire, they fall into foul hell

XVI-16

Pride of race and the vain glory of so-called culture or civilization, or even philanthropy cannot save them from the end to which the sins on which it is all founded must take them

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

Vain, stubborn, intoxicated by wealth and pride, they go in name through the performance of sacrifices for ostentation, contrary to rule

XVI-17

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

Given over to self conceit, hunger for power, insolence, carnal desire and anger, these malicious ones hate God in the bodies of others and in their own

XVI-18

Not listening to the inner voice and debasing oneself or doing injury to others is equivalent to hatred of God, for He abides in the souls of all men and, indeed, suffers through them See also XVII-6, quoted in the chapter p 92

Any code of life based on the satisfaction of mere desire leads to destruction In deciding what is good and right, let men be guided by the experiences of those who have gone before

The inheritance of knowledge that good and wise men have left behind as the result of their search for God and Truth is *Shastra* It is right that each generation of the human race should build on the foundation of the results of the toil of previous generations Otherwise we must be engaged like Sisyphus rolling the stone up for ever

य शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत' ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुख न परा गतिम् ॥

He who disregards the ordinances of the *Shastras* and follows the promptings of desire is not on the road to the highest goal, nor can he attain spiritual power or worldly happiness

XVI-23

तस्माच्छास्त्र प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्त कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

Therefore, let *Shastra* be thy guide in determining what ought to be done, or what ought not to be done Guided by what hath been declared by the ordinances of Shastra, you should engage yourself in work in this world

XVI-24

CHAPTER X

IDEALS—AUSTERITIES—FOOD

[Adhyaya XVII—Slokas 3, 5-10, 14-16, 20-22]

EVERY man is born with a particular nature, the result of his *Karma* According to this is shaped his faith Yet the faith that we consciously nurse also reacts on us We should, therefore, set for ourselves good ideals The action and reaction between natural tendency and chosen ideals are brought out in the following *sloka* Hope for progress lies in this interaction

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

Everyone's faith is fashioned according to one's essential nature Man is made up of his faith, that in which a man places faith, he too is that

XVII-3

Not only should we fix our minds on right ideals, but all our activities should be regulated with a view to upward evolution "Religious" acts, be it sacrifices, austerities, worship or alms-giving, should not be done for ostentation or for attaining selfish ends There is not only no good but harm in austerities undergone merely for

vanity's sake or in the hope of getting some advantage thereby The mere tormenting of one's flesh is not penance

> अशास्त्रविहित घोर तप्यन्ते ये तपो जना ।
> दम्भाहकारसयुक्ता कामरागबलान्विता. ॥
>
> The men who perform severe austerities, unenjoined by the scriptures, out of vanity and self-conceit, impelled by the force of their desires and passions
>
> XVII-5
>
> कर्षयन्त शरीरस्थ भूतग्राममचेतस ।
> मां चैवान्त शरीरस्थ तान्विद्धचासुरनिश्चयान् ॥
>
> These foolish men torment the elements forming the bodies, and Me also, dwelling within the body, know these as men of Asuric resolves
>
> XVII-6

Tapas or austerities may be performed in body, speech or mind *Tapas* of body consists in conduct marked by rectitude, reverence continence and compassion *Tapas* of utterance consists in truthful, gentle and kindly speech, in the study and recital of scriptures The cultivation of mental equilibrium and purity of thought is *Tapas* of mind *Tapas* should be practised without desire for any selfish objects and as being good in itself When done with the object of just gaining the respect of men or for ostentation, it is worthless and when done

in order to hurt others or in a spirit of mere obstinacy, it is wicked

> देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन शौचमार्जवम् ।
> ब्रह्मचर्यमहिसा च शारीर तप उच्यते ॥

Worship rendered to the gods, to the twice-born, to the teachers and to the enlightened, clean life, rectitude, continence and non-violence are said to constitute austerity of the body

XVII-14

> अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहितं च यत् ।
> स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ्मय तप उच्यते ॥

Speech that causes no annoyance, and which is truthful, loving and beneficial, the study and recitation of the scriptures, these are declared to be austerities of the spoken word

XVII-15

> मन प्रसाद सौम्यत्व मौनमात्मविनिग्रह ।
> भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

Tranquillity of mind, gentleness, reticence, self-control, purity of thought, these constitute austerity of the mind

XVII-16

Giving also is, according to the motive behind it, good, useless or worse We should give gladly and not grudgingly, and in a spirit of duty and not in expectation of a returning obligation, or even to gain the merit of alms-giving The *Gita*

divides human activities, desires, tastes, and, indeed, everything, into three classes, the first wherein the spirit of truth and harmony dominates is *Sattvic*, the second wherein the urge to action, the passion-nature, dominates is *Rajasik*, the third and last in the scale is *Tamasik*, wherein inertia dominates

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

That gift is classed as pure which is made to one who is not expected to do something in return, and is made with the feeling that the gift is a duty and is also made in the right place and time to a worthy person

XVII-20

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

That which is given with a view to getting something in return or looking for merit, and what is given grudgingly, are deemed Rajasic gifts

XVII-21

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

Gifts made without propriety of place and time, and to unworthy persons, disrespectfully or contemptuously, are deemed of the nature of Tamas

XVII-22

The food we daily take has its effect on our psychology and character It may be *Sattvik*, good and strengthening to the spirit, or destructive of serenity, passion-producing, *Rajasik*, or wholly bad, causing deterioration of mind and intellect and increasing inertia, *Tamasik*

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥

The food liked by men is also of three kinds, as also sacrifice, austerity and alms-giving Hear thou the distinction of these

XVII-7

आयु सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना
रस्याः स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्त्विकप्रियाः ॥

The foods that promote long life and vitality, bodily vigour, health, joy and amiability, which are pleasant to the taste, soft, substantial and satisfying, are liked by Sattvik natures

XVII-8

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदा ॥

The passionate desire foods that are bitter, sour, saline, over-hot, pungent, dry and burning These produce sickness, pain and grief

XVII-9

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

Food that is not freshly made, food that has lost its flavour, stale food, and food that has gone putrid, leavings of food and food which is filthy, these appeal to men of Tamasik nature

XVII-10

CHAPTER XI

SURRENDER AND GRACE

[Adhyaya IX—Sloka 22 Adhyaya X—Slokas 9-11 Adhyaya XII—Slokas 5-7 Adhyaya XIV—Sloka 26 Adhyaya XVIII—Slokas 62, 64-66]

THE *Gita* recognizes the difficulty of worship in terms of the Impersonal and Absolute The aspirant is, therefore, advised to practise contemplation of God in His personal aspect as loving Ruler of the universe Ever keeping Him in mind, let us engage ourselves in all activities, and dedicate all our work to God as service and worship done unto Him Ultimately it is His Grace alone that can save us, by giving us power of self-control, knowledge and peace, and protecting us from temptation, doubt, weakness and confusion This aspect of Hindu faith is known as the *Bhakti* path of Salvation It is, however, not an alternative to, but a complement of, the practice of an unselfish and detached attitude in the performance of the duties that fall to one's lot There is no question as to which is the more important of the two, the seeking of Grace or the performance of duty Either may be considered

as the primary and the other as the complementary part of the *Gita* teaching

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

I take upon Myself the concern for the welfare of those who worship Me with undistracted mind, and have thereby yoked themselves permanently to Divine Spirit

IX-22

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

They fill their thoughts with Me, they live for Me, they find their joy and their only satisfaction in constantly conversing and enlightening one another about Me

X-9

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

To these, ever-harmonised, loving devotees, I give the *Yoga* of spiritual understanding and thereby they come unto Me

X-10

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

Out of My compassion for them, dwelling within their souls I dispel the darkness of their ignorance with the shining light of true understanding

X-11

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

The task of those whose minds seek to realise the Unmanifest is one of great difficulty, for the Unmanifest is hard for the embodied to realise

XII-5

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

Those who dedicate all their actions to Me, and are wholly intent on attaining Me, and concentrate their minds in meditation of Me

XII-6

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

Those whose minds are fixed thus on Me, I speedily save them from being tossed about in the ocean of life and death

XII-7

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

He who worships Me with unswerving devotion crosses the barriers of inherited qualities and fashions himself for absorption into the Eternal

XIV-26

The following *slokas* are believed to contain the essence of the *Gita* teaching and the last

word on the subject There can be no stronger insistence on complete surrender to God and dependence on His Grace —

तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

Put your trust in Him and have no other thought, by His Grace you will attain supreme peace and the everlasting abode

XVIII-62

सर्वं गुह्यतम भूय शृणु मे परम वच. ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

Listen again to My supreme word, most secret of all You are dear to me, therefore, I emphatically declare it for your benefit

XVIII-64

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

Give all your thoughts, your worship, your sacrifice and your salutations to Me, and you shall certainly come to Me, I pledge my troth to you who are dear to Me

XVIII-65

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

Do not depend on articles of faith or rules of observance, but surrender yourself completely to Me, grieve not, I will liberate you from every sin

XVIII-66

Nought avails but God and He will save us without doubt, whatsoever be our sins, if we grieve for them and surrender ourselves to His Grace

CHAPTER XII

THE ONENESS OF EXISTENCE

[Adhyaya V—Slokas 16, 18 Adhyaya VI—Slokas 29-31 Adhyaya VIII—Slokas 9, 10, 12-14, 18-20 22 Adhyaya XVIII—Slokas 20, 45-49]

REGULATING conduct, controlling the mind, and dedicating all activities as worship unto the Supreme Being, the aspirant realises in course of time the oneness of all existence The identification of self with all life and of all with the Divine is the *Jnana*, which the *Gita* wants the disciple to strive to attain, so as to liberate the soul from the enveloping darkness of ignorance Differences between the cultured and the uncultured, distinctions of high and low and even of one life-form from another, all melt away in the enlarged and clarified vision of the man who attains true enlightenment Even the "eater of dog's meat" becomes one with the rest

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

When ignorance is dispelled by knowledge of the Self, knowledge shining like the sun reveals the Supreme

V-16

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

Sages look with equal eye on a Brahmana rich with learning and culture, or a cow, or an elephant or even a dog or an eater of dogs

V-18

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

The soul, enlightened by Yoga, sees himself in all beings, and all beings in himself, all are equal in his eye

VI-29

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

He who sees Me in everything, and sees everything in Me, to him I am ever present and he is ever present to Me

VI-30

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

He who has firmly realised unity and worships Me as abiding in all beings, howsoever he be engaged, is a *Yogi* and abides in Me

VI-31

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

When the understanding enables one to see an immutable oneness in all beings, and an undivided whole in all the manifold shapes, know that to be the true Light

XVIII-20

The *Gita* lays down the highest ideals of self-control and realisation of all-embracing oneness It is not mere philosopher's amusement, but an earnest appeal to men and women to shape their lives according to its teaching and to do so at once The *Gita* teaching is for the young as well as for the old, for the most busy man of action as for those who have done with the turmoil of life The *Gita* is a book for all time, no doubt but even like other holy books, which are for all time, its words must yet be read on the background of the social order of the time and place wherein the book was written It was not made to be quoted as authority for modern movements Nor can its inadequacy to serve such a purpose be a just or sensible criticism of it What the *Gita* lays down is sufficiently emphatic to be helpful as authority even for modern movements of equality Its insistence in the following *slokas* on the equivalence and nobility of all work should not be misinterpreted as an apology for maintaining the distinctions of high and low based on birth to which they refer, but should be given its just meaning The caste system and occupations fixed by birth are taken for granted in the

book, and teaching is developed thereon It cannot be interpreted for that reason as a defence of the system for all time What the *Gita* emphasizes is that everyone should observe the code of honour and perform the duties of his allotted station in society It lays down that there is in truth no superiority or inferiority in the various duties allotted to various groups in any social order, all being equally necessary of performance for the maintenance of society It lays down that they should all be performed without neglect or confusion, and in the spirit of unselfish social co-operation, this teaching has equal validity whether the social co-operation demanded be in accordance with the caste system or any social order that has replaced it or which may be accepted by society in the future There is no work about which one can say, "this is noble and good, free from all evil, and I shall, therefore, prefer to do it rather than that which has been allotted to me" In every thing to be done in this world, some apparent evil is involved but there is a purifying and ennobling agent for it all, *viz*, the unselfish attitude The teaching that work should be done and done well, not for the gratification of selfish desire but for the carrying on of social life, and that social co-operation is, indeed, worship of God, is applicable to every system of social organisation, be it the most ancient or the most modern The insistence on co-operation without selfish

motives, and the plea that such an attitude of mind ennobles and equalises all tasks should not be misread as a plea for any particular form of social order

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नर ।
स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥

Man reaches proper fulfilment by each being intent on his own duty Let Me tell you how the goal is attained by him who is intent on his own duty

XVIII-45

यत प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिद ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ॥

The performance of one's own duty is worship of Him from Whom have emanated all beings, and by Whom all this is pervaded, and by such worship a man attains the goal

XVIII-46

श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

Better is one's own duty, though unhonoured, than the work of another even if well performed He who does the work indicated by his own nature incurs no sin

XVIII-47

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता ॥

The work to which you are born, though involving defects, ought not to be abandoned All undertakings, indeed, are clouded by defects as fire by smoke

XVIII-48

असक्तबुद्धि. सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह. ।
नैष्कर्म्यसिद्धि परमा सन्यासेनाधिगच्छति ॥

He who holds his inner Spirit unbound, whatever he may do, whose self is well-controlled and who is free from desire, attains by such renunciation that supreme goal which is the aim of renunciation of action

XVIII-49

The aspirant should meditate on the Absolute and Eternal behind all the manifestations of birth, life, death and disappearance Creation and destruction are mere appearance and disappearance, analogous to what a child may see in the appearance and disappearance of life in the cycle of day and night They are but the waking and sleeping, the day and night of *Brahma* When man gets true Light, he realises the Supreme unity of Existence The contemplation and realisation of this supreme oneness is the end and aim of *Yoga*

अनन्यचेता सतत यो मा स्मरति नित्यश ।
तस्याह सुलभ. पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन. ॥

To him who constantly meditates upon Me, not letting his thoughts swerve aside, to

him who is ever yoked to the Spirit, I am easy of attainment.

VIII-14

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

From the unmanifested all the manifested issue at the coming of day, at the coming of night they again disappear into what is termed the unmanifested

VIII-18

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

This totality of life is thus involuntarily brought forth, repeatedly disappearing at the coming of night and appearing at the coming of day

VIII-19

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

There exists higher than this unmanifested another unmanifest Entity, ever abiding, which, when all things disappear, is not itself destroyed

VIII-20

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

That Transcendent One, in Whom all beings abide, by Whom all this world is

pervaded, may be reached by unswerving devotion

VIII-22

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

He who contemplates on the All-knowing, the Ancient, the Ruler, minuter than the atom, the Supporter of all, of form inconceivable, refulgent as the sun, casting no shadow

VIII-9

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

At the time of death, with steady mind, full of devotion, by the power of Yoga drawing together his life-energy into the space between the eye-brows, he goes to the Spirit transcendent and divine

VIII-10

Chapter XIII

ADVAITA AND GITA-DISCIPLINE

A QUESTION may be raised at this stage by those who have only heard of or have a superficial acquaintance with the doctrine of *Advaita* If the Soul's separate existence is the result of illusion and God alone exists, why should there be this toilsome effort at so-called liberation? Why should we not rest content with knowing the truth that God alone exists? This might well be so, were the illusion a mere optical illusion The *Maya* has wrought its effect not only on the eyes but on every one of our senses and on our minds, and has produced attachments, passions and turmoils of the soul Rubbing the eyes alone will not do We must wake up every atom of our being to the reality, because the illusion goes to the depth of our very being Again, it is not enough to know that we should wake up It is necessary actually to wake up This real and thorough awakening of our being is called liberation and the process is just the same whether it proceeds on this basis of waking up from an illusion or is deemed a process of self-purification and liberation of the soul as a real and separate entity

Sense-enjoyments and attachment thereto confirm and add to the illusion It is necessary to get rid of them in order to dispel the *Maya* The knowledge gained from the teacher, that God and Soul are one, but for ignorance born of *Maya*, may be an aid in the process of liberation or waking up, but that by itself is not enough The need for personal effort to free oneself from passions and attachments diminishes as one approaches the goal of true enlightenment, and diminishes in the measure of our progress towards it

Whether the individual soul be treated as a result of *Maya*, liberation consisting, then, in the removal of the illusion that brought about the idea of individual existence, or whether it be considered that the individual soul is a really separate entity beginningless, free and clothed in matter, which must work out its salvation by fitting itself for being received by God—in either case, the process to be gone through is identical If the Soul's separate existence is an illusion, attachment to the objects of sense-enjoyment, and lust, greed and anger add to the illusion and must be avoided With real disillusionment, sins and attachments must automatically cease Conversely, a pure life and unselfish performance of duties and serenity of mind lead to realisation of the truth behind the veil Where attachments have not ceased, we may take it that the knowledge is unreal, and that only lip-

service is being rendered to theory, and the illusion within is increasing, not diminishing True *Jnana* can come, and great illusion be dissolved only by the same process as has been prescribed for liberation from *Karma* on the basis of the soul being a separate spiritual entity according to the *Dvaita* Philosophy Thus it is that the Gita is a book of Life for all, irrespective of differing creeds as to the ultimate nature of the individual Soul

CHAPTER XIV

SEEING GOD

[Adhyaya XI—Slokas 9, 12, 13, 15-18, 38-40, 43, 44]

THE eleventh chapter of the *Gita* records what may be termed a miracle Arjuna is enabled to see God as the all-embracing Universal spirit before which the pairs of opposites, of good and evil, pleasure and pain, light and darkness, and the like, disappear This vision of the Universal was too dazzling for Arjuna to see as a whole and even what he saw was too awful for sight to bear Literally Arjuna was given the divine eye to enable him to see the trans-dichotomous *Visvarupa*, which transcends the Relative and the Partial The meaning of this is that the aspiring soul may catch a glimpse of God, the Universal Immanent Being, when by a pure and dedicated life, and by the practice of serenity and constant meditation the *Yogi succeeds in merging* his self in the Universe and realises the ultimate oneness of all existence

Sanjaya, who narrated the events of the battle to the blind Emperor Dhritarashtra, describes the vision that was unfolded to Arjuna. It was of

God, the All, that embraces the whole universe not excluding either of the pairs of opposites, good and evil, beautiful and ugly, sweet and terrible, pleasant and painful

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

Sanjaya said

Having said this, O King, the great Lord of Yoga, Hari, showed to Partha His transcendent Form as Lord of the Universe

XI-9

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥

If a thousand suns could blaze out together in the sky, that might perhaps be something like the glory of that great manifestation

XI-12

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥

Then the Pandava beheld the whole of the multitudinous universe, brought together and manifested as one single form in the body that the God of all Gods then assumed

XI-13

When this great vision was unfolded, Arjuna burst into a hymn of praise

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीश कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

In Thy form, O God, all the gods I see, and crowds of all grades of beings, Brahma, the Lord, upon His lotus-seat, all the Rishis, and the serpent-gods

XI-15

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्त न मध्य न पुनस्तवादि पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

I see Thee everywhere, with arms, trunks, mouths and eyes, multitudinous, of shape limitless I see no beginning, middle, nor end of Thee, Lord of the Universe, Form All-embracing

XI-16

किरीटिन गदिन चक्रिण च तेजोराशि सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्य समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥

Immeasurable, dazzling, mass of splendour, like the sun or the blazing fire, with lustre issuing in all directions, and with crown, mace and discus, I see Thee

X-17

त्वमक्षर परम वेदितव्य त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम्।
त्वमव्यय शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे॥

Thou art the ever-abiding, the Transcendent, the Goal of all knowledge Thou art the supreme abode of this universe, Thou art the changeless Guardian of Eternal Nature

XI-18

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

First of the Gods, Primeval Spirit, Supreme abode of all that lives, Thou art the Knower and Thou art that which is to be known, Thou art Heaven transcendent, Thou art spread over the universe, O Thou of shape unending!

XI-38

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

Thou art Vayu, Yama, Agni, Varuna and the Moon Thou art the progenitor of the universe, the Grandsire Prostrations to Thee! A thousand prostrations! Again and again, I bow to Thee

XI-39

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

I bow in front of Thee, I bow to Thee behind Prostrations on every side to Thee, O All Of energy boundless, measureless in strength, Thou art the completion of everything, Thou art everything Thyself

XI-40

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

Thou art the world's Father, of all that moves, and of all that stands, adorable, the greatest Guru There is none like Thee Who can surpass Thee, unequalled in power in all the three worlds?

XI-43

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

Therefore, I fall prostrate and offer salutations to Thee, worthy Lord, I seek Thy grace, Thou shouldst bear with me as father does with son, as friend with friend, as lover with his beloved.

XI-44

CHAPTER XV

CONCLUSION

WE may now summarise our studies

We are born with certain qualities and potentialities of body and mind as a result of the previous activities and attachments of the soul This holds us in a strong grip But we have the freedom to liberate ourselves But soul's activities in its present body decide its future, whether it be partial or complete liberation from past *Karma* or further bondage The Grace of God can bring about liberation however great may be the previous bondage This is so, not only because of the inherent power of Grace, but also because the soul's efforts to obtain that Grace have themselves, like other motions of the mind, *Karmic* potency The *Gita* teaches what these efforts should be, to which it gives the name of *Yoga*

The *Yoga* of the *Gita* is a progressive and multiple process There is no loss in attempt and failure as every sincere effort is a gain in itself It consists of

(1) Control of the senses and purity of conduct, and regulation of the routine of life, worship, work, food, sleep, etc ,

(2) Unselfish, but none the less attentive, performance of the duties to which one is called by one's natural fitness and by reason of one's place in the social organisation,

(3) Cultivation of true detachment and an even spirit in the face of success or difficulty or failure, or causes for joy, grief or disappointment,

(4) Vigilant control of the motions of the mind, and the elimination of passions that disturb it—lust, anger and greed,

(5) Periodical turning of the mind inwards, for silent, concentrated meditation, and

(6) Surrender to God's grace

Each of these aspects of *Yoga* may be emphasised and given a separate name, such as *Sankhya Yoga, Karma Yoga, Jnana Yoga, Sannyasa Yoga, Adhyatma Yoga,* or *Bhakti Yoga.* But, in practice, they are all mutually connected and inseparable, and so, all are combined in the *Gita* and brought together in one organic synthesis.

It is possible that the reader of these pages may say The ideal of the *Gita* is good, but it is impracticable; ordinary men can never hope to

attain it What good is it then to men in this world of reality?

This question may be asked not only in respect of the *Gita* teaching, but of every great religion of the world All the faiths and all the scriptures present ideals that are impossible of complete attainment in the work-a-day world For example, who can maintain that the life and teachings of Christ can be truly and fully followed by the Christians that revere and worship Him as God? The same is the case of the Koranic or the Buddhistic teachings Yet it is true that every one of these religions has not only stirred great men's hearts and given strength to their souls but is the daily bread of life to millions of common mortals, who otherwise would have been like beasts of the field

The *Bible*, the *Koran* and the *Gita* are like lamps that light our paths in darkness We cast our own shadows on our path in spite of the lantern in our hands, so, every besetting temptation, doubt, fear or difficulty throws its dark shadow, in spite of the light we carry, and the way is a chequered pattern of light and shadow Still, holding the light firmly in our hands we may walk fairly safely If we let the light go out, we should be lost in the jungle Not every one that swears by a book may be able to follow everything that is said therein, but if every one tries

society grows round the ideals. When a whole people revere certain ideals, life is furnished with standards of conduct that save men from becoming mere beasts of the field and they are held together That we cannot be perfect is no objection to hold the light firmly in our hands, so that we may see our way amidst the shadows Helped by Religion, men live like men even though, too often, erring Why, are not the rules of mere physical hygiene impossible of being followed to perfection? No one thinks of discarding the rules of physical hygiene as a string of impossibilities and counsels of perfection, but wise men and women try as far as they can to abide by them, and we profit thereby So should it be also with the care and protection of the Soul

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

There is nothing like waste of effort in this, nor is there any danger of retrogression by reason of short-comings in practice Even a little of this Dharma saves men from the great evil

II-40

INDEX OF SLOKAS QUOTED

BHARATIYA VIDYA BHAVAN

CONSTITUENT INSTITUTIONS

MUMBADEVI SANSKRIT MAHAVIDYALAYA
An Oriental College teaching Sanskrit and Shastras by traditional methods for Shastri and Acharya (recognised as equivalent to B.A. & M A. respectively) and for Vachaspati (research).

SARAL SANSKRIT PARIKSHA VIBHAG
Department of Easy Sanskrit Examinations for Prarambh, Pravesh, Panchay and Kovid Examinations

UCHHATAR SANSKRIT PARIKSHA VIBHAG
Department of Higher Sanskrit Examinations for Praveshika, Purva Madhyama Uttara Madhyama Shastri, Acharya and Vachaspati Examinations

GITA VIDYALAYA
An Academy for the study of Indian Culture with special reference to the Bhagavad Gita

MUNGALAL GOENKA SAMSHODHAN MANDIR
A Post graduate and Research Institute recognised by the University of Bombay coaching students for the degrees of M A and Ph D

BHARATIYA ITIHASA VIBHAG
One of the major schemes of the Bhavan is the publication of the HISTORY AND CULTURE OF THE INDIAN PEOPLE in 10 volumes So far seven volumes have been published viz (1) The Vedic Age (2) The Age of Imperial Unity (3) Classical Age (4) The Age of Imperial Kanauj (5) The Struggle for Empire (6) The Delhi Sultanate and (7) British Paramountcy and Indian Renaissance. The remaining volumes will follow at an interval of 8 10 months This is considered to be the first successful attempt at re-writing the History of India by her own sons on a very exhaustive basis.

MUNSHI SARASWATI MANDIR
An Institute of Culture with a Library consisting of over 65 000 volumes including many Indological volumes Museum consisting of old and valuable palm leaf manuscripts, coins paintings etc

VALLABHJI RAMJI BALPUSTAKALAYA
A Library for Children with facilities for indoor games, educational films etc.

BHARATIYA KALA KENDRA
The Kala Kendra is devoted to the development of Drama Dance and Music. The Kala Kendra produces dramas and dance ballets in English as well as in Hindi, Gujarati and Marathi to encourage amateur talents An Inter-Collegiate Dramatic competition in several languages, is also sponsored by it every year for the same purpose Ideal facilities for these activities are provided in the Bhavan's auditorium—the Kanji Khetsey Sabhagriha

BHARATIYA SANGIT SHIKSHAPITH
An Academy of Indian Classical Music affiliated to the Bhatkhande Sangit Vidyapith, Lucknow which is recognised by the Central Government for courses leading to the Bachelor of Music Degree

BHARATIYA NARTAN SHIKSHAPITH
An Academy of Dance for teaching the four systems of Indian dancing viz Manipuri, Kathak, Kathakali and Bharata Natyam

BOOK UNIVERSITY
Publishes books, ancient and modern, at low price (Rs 2 50 each) to make available the best literature and classics of India and the world to the common man in an easily understandable form So far 115 titles have been published and over 10,00 000 copies have in all been sold Some of the books have also been published in Hindi Marathi Bengali and Tamil A new one-rupee Series has also been started.

PRAKASHAN MANDIR

Apart from our HISTORY and BOOK UNIVERSITY SERIES, this department also publishes the results of the research and other activities of the various Mandirs of the Bhavan and books of cultural value. Its publications include

Bharatiya Vidya Series Critical editions of texts, translations and original works of research in Indology—in Sanskrit and English Published volumes 22

Singhi Jain Series Critical editions of ancient works and manuscripts connected with Jain religion and literature Published volumes 52

The Glory that was Gurjaradesa: A comprehensive study of Gujarat in 7 volumes. Published volumes 2

Munshi Sahitya Social novels, historical plays biographical works of Munshiji and Smt Lilavati Munshi in Gujarati and English, the copyright whereof has been kindly gifted by them to the Bhavan Published volumes 80

JOURNALS

Bharatiya Vidya An Indological research quarterly in English started in 1943. Published volumes 22

Bhavan's Journal An English Fortnightly devoted to life, literature and culture started in August 1954 Present circulation 50 000 copies. Annual Subscription Rs 6 50

Bharati A Hindi Fortnightly started in August 1956 Annual Subscription Rs. 6 50.

Samarpan A Gujarati Fortnightly started in November 1959 Annual Subscription Rs 6 50

DEPARTMENT OF PRINTING

Bhavan's press where all its publications and periodicals are printed and where practical training in printing is given to the students of the Bhavan's College of Journalism, Advertising and Printing

COLLEGE OF JOURNALISM ADVERTISING & PRINTING

An Institution for providing systematic instruction in Journalism, Advertising, Sales Promotion Public Relations and Printing

M M COLLEGE OF ARTS & N M INSTITUTE OF SCIENCE

The College was opened by Sardar Vallabhbhai Patel in June 1946 It is affiliated to the Bombay University for courses of studies leading to B A B Sc. M A. M Sc, and Ph D degrees

BHAVAN'S COLLEGE OF ARTS & SCIENCE DAKOR

The College was opened by Dr Jivraj Mehta, Chief Minister Gujarat in June 1962 It is affiliated to the Gujarat University for courses of studies leading to B A & B Sc. degrees.

SARDAR PATEL COLLEGE OF ENGINEERING

The College was opened in June 1962 for courses of studies leading to B E (Civil Mechanical and Electrical) degree It is affiliated to the Bombay University

BHAVAN'S SCHOOL, NEW DELHI

The School coaches students for the Cambridge School Leaving Examination, the medium of instruction being English Sanskrit and Hindi are compulsory subjects Music, Indian dancing and painting are also taught to the students

BHAVAN'S ACADEMY OF LANGUAGES, NEW DELHI AND BOMBAY

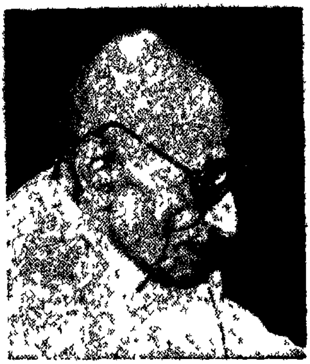
The Academy teaches four foreign languages, viz. German, Russian, French and Spanish

MUNGALAL GOENKA SANSKRIT TRUST

The income from this Trust goes to support the Post graduate and Research Department of the Bhavan

ASSOCIATED BODIES

Sanskrit Vishva Parishad, Bharatiya Stree Seva Sangh, Bombay Astrological Society



THE AUTHOR

CHAKRAVARTI RAJAGOPALACHARI, popularly known as "Rajaji" or "C R ", is a great patriot, astute politician, incisive thinker and one of the greatest of living Indians As a close associate of Mahatma Gandhi, as an ardent freedom-fighter, as Chief Minister of Madras, as Governor of West Bengal, as Home Minister of India and as the first Indian Governor-General of India, he has rendered yeoman service to the country and left an indelible impress on our contemporary life

The *Bhagavad Gita* is one of the greatest scriptures expounding the creed, discipline and ideals of Hinduism And no better exponent of the ideas contained in it can be found than Rajaji who is indisputably one of the greatest living Indians and who has dared to live strictly according to the precepts of that manual of correct living in the face of the challenges of a rife-torn political and public life.